इकाई– 2

भारत में चुनाव सुधार व भारतीय राजनीति में प्रमुख मुद्दे

2.0 इकाई परिचय

निर्वाचन आयोग एक स्थायी व स्वतंत्र संस्था है। इसका गठन भारत के संविधान द्वारा देश में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने के उद्देश्य से किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत संसद, राज्य विधानमंडल, राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के पदो ंके निर्वाचन के संचालन, निर्देशन व नियंत्रण की जिम्मेदारी चुनाव आयोग की है, इस इकाई में आप भारत में स्तरीकृत सामाजिक तंत्र की व्यवस्था का अध्ययन करेगें। भारत का संविधान राज्य से अपेक्षा करता है कि वह सभी नागरिकों के साथ उनके जन्म, लिंग और धार्मिक विश्वास की ओर ध्यान दिये बिना समान बर्ताव करे। भारतीय राजनीति की प्रमुख समस्यायो के बारे में जान पाएगें, जिसमें धर्म व साम्प्रदायिता, भाषा, क्षेत्रीयतावद तथा गरीबी। भारत में हिंन्दू, मुस्लिम, सिक्ख व ईसाई धर्मों के समुदायों के बारे समझ पाएगें सामुहिकता की अवधारणा पर आधारित भाषा के कारण परस्पर जुडे अभेदवाद संबधी दावों का आरंभ कांग्रेस की स्वतंत्रता पूर्व की राजनीति से है जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया था। भारत में स्वतंत्रता उपरांत भी राज्यों के आकार, पहचान व अभिलक्षण में काफी बड़ा बदलाव देखा गया। नए राज्यों के संविधान, उनके विलय और उनकी क्षेत्रीय सीमाओं में परिवर्तन की सुविधा संविधान के अनुच्छेद–3 द्वारा प्रदान की गई है। प्रत्येक इकाई में अभ्यास प्रश्न भी दिए गए है। प्रत्येक इकाई को पढ़ने के बाद आप इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास कर सकते है। पाठ्यक्रम के अंत में कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ सूची भी दी गई है। आपको सलाह दी जाती है कि आप इसका इस्तेमाल करें।

2.1 इकाई उद्देश्य

- भारतीय चुनाव आयोग के बारे में जानना।
- भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका को समझना।
- धर्म व साम्प्रदायिकता के बारे में जानना।
- भारतीय राजनीति में भाषा की प्रमुखता को जानना।
- क्षेत्रीयतावाद के बारे में जानना।
- गरीबी उन्मूलन के संदर्भ में भारतीय राजनीति के प्रमुख कार्यक्रमों को जानना।

2.2 भारत में चुनाव सुधार (Electrol Reforms in India)

2.2.1 परिचय

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है और संविधान के लागू होने से लेकर देश में तरह आम चुनाव व अनेक विधान सभा चुनाव हो चुके हैं, जिनके द्वारा मतदाताओं ने कई बार सत्ता परिवर्तन भी किया है। परन्तु फिर भी यहां की चुनाव प्रणाली में बहुत सी खामियां है, जिनसे चुनावों के प्रति लोगों की आस्था कम होती जा रही है। यदि इन खमियों को दूर नहीं किया गया तो आने वाले समय में चुनावों से जनता का विश्वास पूर्णरूप से उठ जाएगा। चुनावों में काल धन, बाहुबल का प्रयोग, हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, सरकारी मशीनरी का दुरूपयोग, फर्जी मतदान, चुनाव नियमों का उल्लंधन, चुनाव अधिकारियों द्वारा पक्षपात तााि निर्वाचन अधिकारियों पर

राजनीतिक दबाव आदि ये ऐसी प्रवृतियां बढ़ती जा रही है। एल० एम० सिंधवी के अनुसार, ''हमारे संविधान ने आधुनिक उदारवादी दर्शन के सार, तत्व सार्वभौम व्यस्क मताधिकार को अपनाया है, परन्तु इसके पूरे अर्थ का अभी उद्घाटन होना है, अभी इसे न्याय, स्वतंत्रता तथा क्षमता के उदात्त लक्ष्यों की सिद्धि का शासन बनाना शेष है। यदि हमें इस महत् तथा भव्य आदर्श को यथार्थ के धरातल पर लाना है, तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निर्वाचन–प्रक्रमों के वास्तविक स्वरूप तथा त्रुटियों एवं विकृतियों का परिचय प्राप्त करें और उनकी शुद्धता की रक्षा के लिए पृथक् प्रयास करें।'' इन त्रुटियों को दूर करके भारत की लोकतात्रिय व्यवस्था को और भी अधिक मजबूत किया जा सकता है।

2.2.2 उद्देश्य

- चुनाव आयोग के स्वतंत्र व निष्पक्ष कार्यों को समझना।
- भारतीय चुनाव आयोग के संगठन के बारे में जानना।
- चुनाव सुधार अध्यादेशो के बारे में जानना।
- चुनाव आयोग के कार्यों का मूल्यांकन करना।

चुनावों से सम्बन्धित इन समस्याओं को देखते हुए इनके विवेचन तथा सुधार के लिए समय–समय पर अनेक समितियों को गठित किया गया है। जिनमें से सर्वप्रथम तारकुण्डे समिति ने चुनाव सुधारों की तरफ ध्यान दिया। इसके बाद 1990 में श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में गठित समिति ने चुनाव सुधारों पर अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्ते) अधिनियम 1991 तथा लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम 1996 से इस समिति की अनेक सिफारिशों लागू हो गई है। इसलिए चुनाव सुधारों से सम्बन्धित समितियों तथा अधिनियमों का उल्लेख निम्नलिखित हैः

चुनाव सुधार से सम्बन्धित अध्ययन के लिए सिटिजन्स फॉर डेमोक्रेसी (Citizens for Democracy) नामक संगठन की तरफ से सन् 1974 में श्री जयप्रकाश नारायण ने समिति का गठन किया, जिसके अध्यक्ष महाराष्ट्र उच्च न्यायलय के भूतपूर्व न्यायधीश श्री वी० एम० तारकुंडे थे। इस समिति का मुख्य लक्ष्ण चुनावों से सम्बधित कमियों को दूर करना था, उनकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैः–

1. मताधिकार 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष की आयु में ही दे दिया जाए।
2. आय के स्त्रोतों का उल्लेख तथा आय–व्यय का पूरा हिसाब लिखना समस्त राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य कर दिया जाऐ और निर्वाचन आयोग इसकी जांच कराये। उम्मीदवारों के चुनाव–खर्च के हिसाब की जांच करायी जाये। राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारों के हिसाब से जोड़ा जाये तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगुना कर दिया जाये।
3. प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान–कार्ड निःशुल्क दिये जायें तथा प्रत्येक मतदाता के नाम का कार्ड बिना टिकट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जाये। इसके अलावा प्रत्येक उम्मीदवार को छूट हो कि वह अपने निर्वाचन–क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता के नाम 50 ग्राम तक प्रचार सामग्री डाक से निःशुल्क भेज सके। निर्वाचन–क्षेत्र के मतदाताओं की सूचियों की 12 प्रतियां प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से निःशुल्क दी जायें।
4. जो लोग राजनीतिक दलों को वर्ष में एक हजार रुपया दान दें, उन्हें इस राशि पर आय कर की छूट दी जाये तथा कम्पनियों पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाऐ कि वे राजनीतिक दलों को दान नही ने सकती।

कम्पनियों द्वारा विज्ञापनों केरूप में राजनीतिक दलों को दी जाने वाली सहायता पर भी पाबन्दी जगायी जाये।

5. लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नये चुनावों की घोषणा के बाद से सरकार कामचलाऊ सरकार की तरह काम करें वह न नयी नीतियों की घोषणा करे, न उन्हें लागू करे, न नयी परियोजनाएं चालू करे, न उनका वादा करे, न नये ऋण अथवा भत्ते दे और न वेतन वृद्धि की घोषणा करे तथा ऐसे सरकारी समारोह आयोजित न करे, जिसमें मन्त्री, राज्यमंत्री, उपमंत्री अथवा संसदीय सचिव भाग लें।

6. चुनाव के दौरान मन्त्रिमण्डल के सदस्य सरकारी खर्च पर यात्रा न करें। सरकारी सवारी और विमान प्रयोग में न लायें, उनकी सभाओं के लिए सरकारी मंच न बनायें और उनके दौरों के समय सरकारी कर्मचारी तैनात न किए जायें।

7. जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए 500 से बढ़ाकर 2,000 रुपये और विधानसभओं के उम्मीदवारों के लिए 200 से बढ़ाकर 1,000 रुपये कर दी जाये।

8. आकाशवाणी के सम्बन्ध में 'चन्दा समिति' की रिपोर्ट पर अमल किया जाये तथा आकाशवाणी को निगम कारूप दिया जाये। जिस तरह ब्रिटेन में बी. बी. सी. पर राजनीतिक दलों को पिछले चुनावों में प्राप्त भत्तों के अनुपात में प्रचार का समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी उन्हें रेडियों और टेलिविजन पर समय दिया जाये।

9. राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किये जायें, केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति केवल प्रधानमंत्री के परामर्श पर नहीं अपितु तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिश पर करें। इस समिति में प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हो।

10. निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र और राज्यों में निर्वाचन परिषदें बनायी जायें, जो उसे सलाह दें। इन परिषदों में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि हों। इनके अलावा 'मतदाता परिषदें' भी बनायी जायें, जो निर्वाचन को समय होने वाली बुराइयों पर निगाह रखें तथा निर्वाचकों की निष्पक्षता की रक्षा करें।

22 अप्रैल, 1975 को प्रधानमंत्री के साथ चर्चा के समय आठ राजनीतिक दलों की ओर से भारत को एक संयुक्त स्मरण पत्र दिया गया, जिसमें निर्वाचन से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया थाः–

1. विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाये, जो वर्तमान निर्वाचन–प्रणाली का ऐसा विकल्प तलाशे जिससे जनता की इच्छा चुनाव–परिणामों में अधिक प्रामाणिकता के साथ 'प्रतिबिम्बित' हो सके।

2. मताधिकार प्राप्ति की आयु 21 के बजाय 18 वर्ष मानी जाये।

3. आम निर्वाचनों के बीच उठने वाले सार्वजनिक प्रश्नों पर संविधान में लोकनिर्णय (रेफरेण्डम) की व्यवस्था की जाये।

4. प्रतिनिधियों के प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त अच्छा है, लेकिन एक सर्वदलीय समिति बनाकर उसे इस बारे में सिफारिश करने का काम सौंपा जाये।

5. निर्वाचन आयोग बहु–सदस्यीय हो तथा उसकी नियुथ्कत तीन सदस्यों की चयन समिति की सिफरिश के आधार पर करे, इस समिति में प्रधानमंत्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश और विरोधी दल का नेता या प्रतिनिधि हों।

6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त राज्यों अथवा क्षेत्रों के लिए स्थायी निर्वाचन आयोग नियुक्त करे।

7. चुनावों में गड़बड़ की शिकायतों की जांच के लिए केंद्र और राज्यों में जनता के प्रतिनिधियों और प्रमुख निर्दलीय व्यक्तियों की निर्वाचन परिषदें कायम की जायें और उन्हें वैधानिक स्तर दिया जाये।

8. आकाशवाणी और टेलीविजन को निगम कारूप दिया जाये और उन पर सभी राजनीतिक दलों का प्रचार के लिए बराबर समय दिया जाये।

9. देश–भर में एक दिन में ही चुनाव कराया जाये, हर मतदाता–केंन्द्र पर केवल एक मतपेटी हो और मतगणना केन्द्र–बार हो।

61वें संविधान संशोधन, 1988 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 326 में संशोधन कर मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है।

1990 में श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में चुनाव सुधारों के सम्बन्ध में एक समिति का गठन किया गया और इस समिति अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए, जिनमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैः–

1. निर्वाचन आयोग तीन सदस्यीय निकाय होना चाहिए। जो 1 अक्टूबर, 1993 को तीन सदस्यीय निकाय बना दिया गया।

2. दल–बदल कानून के अन्तर्गत अयोग्यता, केवल स्वेच्छा से त्यागपत्र देने और विश्वास प्रस्ताव, धन विधेयक अथवा राष्ट्रपति के धन्यवाद प्रस्ताव के मामलों में दल–सचेतक के विरुद्ध मतदान करने या अनुपस्थिति रहने को ही माना जाना चाहिए। इस बारे में अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया गया है।

3. बहुउद्देशीय फोटो पहचान पत्र प्रदान करना इस योजना को सरकार ने स्वीकार कर लिया और 28 अगस्त, 1993 को मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी० एन० षेषन ने यह आदेश जारी किया कि 1 जनवरी, 1995 के बाद हाने वाले प्रत्येक चुनाव में हर नागरिक के पास अपना फोटो पहचान पत्र का होना जरूरी होगा।

4. किसी भी व्यक्ति को दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों पर चुनाव लड़ने की अनुमति न देना। इस सिफारिश को लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के अन्तर्गत लागू किया गया है।

5. मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्तों का कार्यकाल 5 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक जो भी बाद में हो, होना चाहिए और किसी भी हाल में 65 वर्ष की आयु या 10 वर्ष से अधिक समयावधि तक उन्हें पद पर नही बन रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्तों की (सेवा–शर्तें) संशोधन अधिनियम, 1994 में इनका कर्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु, जो भी पहले हो, निर्धारित कर दिया गया है।

6. कम गंभीर उम्मीदावारों को हतोत्साहित करना। स्वतंत्र उम्मीदवारों की जमा राशि को बढ़ाया जायें इस सम्बन्ध में लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के तहत प्रावधान किया गया है।

7. मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने तथा मतदाताओं को प्रभावित करने और डराने–धमकाने से छुटकारा पाने के लिए विधायी उपाय करने चाहिए। इस सम्बन्ध में भी लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के तहत प्रावधान किया गया है।

8. मतदान के दिन मोटर गाड़ियां चलाना, आग्नेय शस्त्र लेकर चलना, शराब की बिक्री और वितरण चुनावी अपराध होना चाहिए। यह प्रावधान भी लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 में किया गया है।

9. मतदाता सूची को तैयार करने, अद्यतन करने, आदि सम्बन्धी सरकारी ड्यूटी का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।

10. आयोग के पर्यवेक्षकों को कानूनी हैसियत प्रदान करना। और उन्हें कुछ हालातों में मतगणना रोकने के अधिकार दिए जाने चाहिए।

11. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के सभी उम्मीदवारों को मत–पत्र में दूसरे सभी उम्मीदवारों से ऊपर रखना चाहिए।

12. स्थान रिक्त होने की 6 महीने की अवधि के अन्दर उप–चुनाव होना चाहिए।

13. चुनाव सभाओं मे व्यवधान उत्पन्न करने पर सजा को बढ़ाया जाना चाहिए।

14. किसी भी मतदान केन्द्र पर मतदाताओं को निशुल्क ले जाने के लिए वाहनों को अवैधरूप से किराए लेने पर दण्ड को बढ़ाया जाना चाहिए।

15. मतदान की समाप्ति से 48 घण्टे पहले चुनाव के सम्बन्ध में जुलूस या आम बैठकें करने की मनाही होनी चाहिए।

16. लोक प्रतिनिधित्व, 1951 की धारा 135 में संशोधन होना चाहिए।

17. प्राधिकृत व्यक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के लिए शस्त्र लेकर मतदान केन्द्र के नजदीक जाने की रोक होनी चाहिए।

18. मतदान के दिन किसी औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्था के कर्मचारियों को वेतन सहित अवकाश मिलना चाहिए।

19. राष्ट्रीय मान अधिनियम, 1971 की धारा 2 और 3 के अन्तर्गत दोषी पाए जाने पर, दोषी जाने की तिथि से 6 वर्ष की समयावधि के लिए अयोग्य करार दिया जाना चाहिए।

20. मतदान के दिन मतदान केन्द्र के अन्दर किसी भी भोजनालय आदि में शराब या अन्य कोई नशीला प्रदार्थ बेचने अथवा वितरण पर रोक लगाई जानी चाहिए।

21. किसी भी स्वतंत्र उम्मीदवार के निधन पर चुनाव रद्द ने होना चाहिए।

22. वर्तमान चुनाव प्रणाली में परिवर्तन के प्रश्न पर आगे और विचार करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया जाना चाहिए।

23. सभी चुनावी मुद्दों की जांच के कार्य के लिए संसद की एक स्थायी समिति का गठन होना चाहिए।

24. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को एक निश्चित सीमा तक राज्य की और से धनराशि मिलनी चाहिए।

25. डाले गए मतों के एक चोथाई भाग से कम मत प्राप्त करने पर उम्मीदवार की जमा राशि जब्त करनी चाहिए।

26. वर्ष 1981 की जनगणना के आधार पर नया परिसीमन करना तथा अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों में क्रमावर्तन करना चाहिए।

27. आदर्श आचार संहिता के महत्वपूर्ण प्रावधानों के लिए सांविधिक समर्थन देना चाहिए।

28. मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयुक्तों को न केवल सरकार के अन्तर्गत किसी नियुक्ति बल्कि राज्यपाल के पद सहित किसी अन्य पद के लिए आयोग्य घोषित करना चाहिए।

29. मुख्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायधीश ओर विपक्ष के नेता के साथ विचार–विमर्श से की जानी चाहिए। और अन्य सदस्यों की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त के विचार विमर्श पर की जानी चाहिए।

30. भविष्य में होने वाले सभी चुनावों में इलैक्ट्रॉनिक मशीन का प्रयोग होना चाहिए। इस सम्बन्ध में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में मार्च, 1992 में विशेषज्ञ प्रावधान के द्वारा इलैक्ट्रानिक मशीन का चुनावों में प्रयोग का अधिकार दिया गया और नवम्बर, 1998 में हुए विधान चुनावों में इस मशीन का प्रयोग किया गया।

नोटः–

1. प्वाइंट 6 से 21 तक सिफारिशों से सम्बन्धित प्रावधान लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 में किए गए है।
2. प्वाइंट 22 से 29 तक अभी तक कोई निर्णय नहीं लिया गया है।

31 जुलाई, 1996 को संसद द्वारा चुनावों से कम्बन्धित बिल पास कर लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में संशोधन किया गया है, जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1996 बना जिसके द्वारा श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता वाली समिति की अनेक सिफारिशें लागू की गई।

लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम,1996 द्वारा अधिनियमित किए गए चुनावी सुधारों पर प्रस्ताव

1. मतदाता सूची को तैयार करने सम्बन्धी सरकारी ड्यूटी का उल्लंधन करने पर दण्ड का बढावा जाना।

2. राष्ट्र गौरव अपमान निवारण अधिनियम, 1971 की धारा 2 और 3 के अन्तर्गत दोषी जाए गए व्यक्तियों को अयोग्य घोषित करना।

3. भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा नियुक्त पर्यवेक्षकों को सांविधिक समर्थन देना और उन्हें यह अधिकार देना कि वे रिटर्निंग अधिकारी को यह निर्देश दे सकें कि यदि बहुत बड़े पैमाने पर मतदान केन्द्रों पर कब्जा हुआ है तो भारत के निर्वाचन आयोग के निर्णय के लम्बित रहने तक मतगणना ओर परिणाम की घोषणा रोक दी जाए।

4. न्यूनतम प्रचार अवधि को घटाकर 14 दिन कर दिया जाए।

5. प्रतिमूर्ति राशि को बढ़ाना और स्वतंत्र उम्मीदवार के मामले में प्रस्तावकों की संख्या 10 की जाए।

6. एक उम्मीदवार को एक श्रेणी के दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगाना।

7. मतदान पत्र पर मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों के नाम स्वतंत्र उम्मीदवारें के नामों से पहले रखना।

8. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल के उम्मीदवार के निधन के मामले में भी चुनाव रद्द (काउन्टरमांड) ने किया जाए।

9. चुनाव समाप्त होने से 48 घण्टे पहले चुनाव सम्बन्धी सार्वजनिक सभाओं ओर अन्य प्रकार से चुनाव प्रचार करने पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित प्रावधान का विस्तार करना।

10. चुनाव सभाओं में गड़बड़ी करने पर दण्ड को बढ़ाना और अपराध को संज्ञेय बनाना।

11. मतदान केन्द्र पर मतदाताओं को लाने और वापस भेजने के लिए निःशुल्क सवारी उपलब्ध करने के लिए किसी वाहन को किराए पर लेने अथवा हासिल करने के अपराध की सजा को बढ़ाना।

12. मतदान के दिन मतदान केन्द्र पर तथा उसके नजदीक शस्त्र लेकर जाने पर प्रतिबन्ध लगाना और इसे चुनावी अपराध बनाना।

13. मतदान केन्द्र से मतपत्रों के हटाने के अपराध के प्रावधान का विस्तार करना।

14. मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के अपराध का विस्तार करना और इस अपराध को संज्ञेय बनाकर इसके लिए दण्ड का बढ़ाया जाना।

15.1(1) मतदान के दिन किसी व्यावसायिक, व्यापारिक औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्थान के कर्मचारियों को वेतन सहित अवकाश देना।

15.1(2) मतदान समाप्त होने से 48 घण्टे पूर्व शराब की बिक्री/वितरण पर प्रतिबन्ध लगाना।

16. 6 महीने की अवधि के भीतर उप–चुनाव कराना।

1998 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के सत्ता मे आने पर दिनेश गोस्वामी समिति की कार्यान्वित नहीं हो जाने वाली सिफारिशों पर प्राथमिकता के आधार पर विचार विर्मश शुरू हुआ। गृहमंत्री की पहल पर उन प्रस्तावों पर नए सिरं से चर्चा करने के लिए 22 मई, 1998 को विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ एक बैठक में लिए गए निर्णयों का सारांश इस प्रकार हैः–

1. वर्तमान में संसदीय ओर विधानसभा निर्वाचन–क्षेत्रों की संख्या जारी रहेगी जब कि वर्तमान संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार नया परिसीमन तय नहीं हो जाता है।

2. लोकसभा और विधानसभाओं का चुनाव लड़ने के लिए उम्र घटाकर 21 वर्ष और विधानपरिषदों और राज्यसभा के चुनावों के लिए उम्र घटाकर 25 वर्ष कर दी जाए।

3. एक प्रत्याशी को दो निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने के लिए वर्तमान स्थिति को जारी रखना और फिलहाल इसे एक क्षेत्र तक सीमित नहीं किया जाए।

4. लोक प्रतिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8–क के सम्बन्ध में यथास्थिति बनाये रखी जाए।

5. जमानत राशि बचाने के लिए डाले जाने वाले उपेक्षित वोटों की न्यूनतम संख्या के सम्बन्ध ने यथास्थित बनाए रखना।

6. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों का राज्य विधीयन उपलब्ध कराने के लिए ठोस उपायों का सुझाव देने तथा राजनीतिक दलों द्वारा लेखों के रख–रखाव तथा उनकी लेखपरीक्षा करने, राजनीतिक दलों को कम्पनियों द्वारा दिए जाने वाले चन्दे पर प्रतिबन्ध लगाने, चुनाव खर्चों पर रोक के लिए प्रत्याशियों के चुनाव खर्च में राजनीतिक दलों के खर्चों को शामिल करने तथा प्रत्येक आम चुनाव से पहले भारत के निर्वाचन आयोग को चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करने सम्बन्धी प्रस्तावों के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए श्री इन्द्रजीत गुप्त, संसद सदस्य की अध्यक्षता में एक समिति का गठन करना।

7. भारत के निर्वाचन आयोग से अनुरोध किया जाए कि वह रानीतिक दलों के परामर्श से आदर्श आचार संहिता की पुनरीक्षा करके उसको सपुनः तैयार करे।

8. निर्वाचन आयोग से अनुरोध किया जाए कि वह राजनीतिक दलों के परामर्श से चुनाव चिन्हों के आरक्षण और आबंटन के सम्बन्ध में अपने आदेश की पुनरीक्षा करे।

9. मतदान को अनिवार्य नहीं बनाया जाये।

22 मई, 1998 की विभिन्न दलीय बैठक में लिए गए एक निर्णय के आधार पर श्री इन्द्रजीत गुप्त, संसद सदस्य की अध्यक्षता में एक उच्च अधिकारी प्राप्त समिति गठित की गई थी जिसे मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को राज्य निधिकरण उपलब्ध कराने के लिए ठोस उपायों को सुझाव देने को कहा गया।

इस समिति ने अपनी रिर्पार्ट 14 जनवरी, 1999 को पेश की जिसकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैः–

- राजनितिक दलों द्वारा लेखों के रख–रखाव तथा उनकी लेखा परीक्षा होनी चाहिए।
- राजनितिक दलों को कम्पनियों द्वारा दिए जाने वाले चन्दे पर रोक लगानी चाहिए।
- राजनीतिक दलों द्वारा 10000 रुपये से ज्यादा के चन्दों को चैक या ड्राफ्ट केरूप में लेना चाहिए।
- चुनाव व्यय सम्बन्धी प्रत्याशियों के चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा में राजनीतिक दलों के खर्चों को शामिल किया जाना चाहिए।
- राजनीतिक दलों को प्रत्येक वर्ष के लेखे आयकर अभिकरण को जमा कराने चाहिए।

जीवन रैड्डी समिति, 1999

न्यायमूर्ति जीवन रैड्डी की अध्यक्षता में भारतीय कानून आयोग ने चुनाव सुधार के लिए मूलभूत सुझाव दिए जो इस प्रकार हैंः–

1. आंशिक सूची व्यवस्था शुरू की जाए और उन दलों को समाप्त कर दिया जाए जो कुल मतों का 5 प्रतिशत भी प्राप्त न कर पाए।
2. यदि कोई भी सांसद चुनाव से पहले किए गए गठबन्धन को छोड़ता है तो उसकी सीट जब्त कर ली जाए।
3. प्रधानमंत्री के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव तब तक पास नहीं किया जाना चाहिए, जब तक उसका उत्तराधिकारी लोकसभा में अपना विश्वास प्रकट न कर दे।
4. लोकसभा तथा राज्य की विधानसभाओं की सदस्य संख्या में 25 प्रतिशत बढ़ोतरी की जाए।
5. स्वतन्त्र उम्मीदवारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।
6. दल–बदल विरोध कानून से स्पलिट या समायोजन का प्रावधान समाप्त किया जाए।
7. जिन पर गंभीर अपराधों के लिए न्यायालय में आरोप पत्र दाखिल हो चुका है, उसे चुनाव न लड़ने दिया जाए।
8. संविधान की धारा 331 को समाप्त कर दिया जाए जिसके तहत एंग्लो–इंडियन समुदाय के दो सदस्य मनोनीत किए जाते हैं।

चुनाव–सुधार अध्यादेश, 2002

लोक प्रतिनिधित्व संशोधन अध्यादेश 24 अगस्त 2002 को लागू किया गया है, जिसके तहतः–

1. यदि किसी व्यक्ति को फौजदारी मामले में 2 वर्ष का कारावास हो गया है तो वह चुनाव लड़ने के अयोग्य होगा।
2. चुनाव के फौरन पश्चात् सभी चुने हुए सदस्य अपनी सम्पदा की घोषणा स्पीकर को कर देंगे।

सर्वोच्च न्यायालय निर्णय, 2002

28 अक्तूबर, 2002 को सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव आयोग के गुजरात में चुनावों को स्थगित करने के निर्णय को उचित ठहराते हुए कहा कि चुनाव संचालन का कार्य पूर्णतया चुनाव आयोग के क्षेत्राधिकार में ही है।

निर्वाचन आयोग

भारत में संसदीय लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई है, जिसमें जनता एक निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधित्वों का चुनाव करती है। चुनाव व्यवस्था लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव–प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं बल्कि इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस प्रकार होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और प्रत्येक मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता तथा ईमानदारी पर कितना विश्वास है। भारतीय संविधान सभा में हृदयनाथ कुंजरू ने चुनाव–तन्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि, ''अगर चुनाव तन्त्र दोष पूर्ण है या कुशल नहीं है या गैर–ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो प्रजातन्त्र उत्पत्ति के स्रोत पर ही विषमय हो जाएगा, जनता चुनावों में यह सीखने के बदले कि वह अपने मतों का प्रयोग किस प्रकार करे, और उनका न्यायपूर्ण मतदान किस प्रकार संविधान में परिवर्तन और प्रशासन में सुधार ला सकता है, वह केवल यह जानने लगती है कि किस प्रकार षड्यन्त्रों पर आधारित दलों का निर्माण किया जा सकता है और अपने आप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन–किन गलत तरीकों को अपनाया जा सकता है।''

संविधान में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के लिए उपबंध किया गया है। प्रत्येक नागरिक को, जिसकी आयु 18 वर्ष है, मत देने का अधिकार प्रदान किया गया है। नागरिक मताधिकार का प्रयोग चुनाव के माध्यम से करते हैं। चुनावों को निष्पक्ष एवं निर्बध करवाने के लिए एक स्वतन्त्र प्राधिकरण के अधीक्षण और निर्देशन की जरूरत पड़ती है और यह प्राधिकरण निर्वाचन आयोग कहलाता है। भारत जैसे विशाल आकार वाले, भारी जनसंख्या वाले तथा इतने अधिक मतदाताओं वाले देश में निर्वाचन करवाना एक बहुत बड़ा कार्य है। यहाँ केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आए दिन चुनाव होते रहते हैं। इसलिए जल्दी–जल्दी चुनाव होने और राजनीतिक दलों में विभाजन से देश का निर्वाचन आयोग एक ऐसा सत्ता केन्द्र के तौर पर उभर रहा है, जो चुनाव के पहले राजनीतिक दलों में विभाजन से देश का निर्वाचन आयोग एक ऐसा सत्ता केन्द्र के तौर पर उभर रहा है, जो चुनाव के पहले राजनीतिक दलों के आचारण और सरकार के कामकाज पर कड़ी नजर रखता है। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक अध्याय अनुच्छेद 324 से 329 में निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब तक भारत में सम्पन्न हुए तेरह लोकसभा तथा विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों को चुनावों को सम्पन्न कराने में निर्वाचन आयोग ने जिस क्षमता का परिचय दिया है, उसकी देश–विदेश में भारी प्रशसां हुई है। जैसे अक्तूबर 2002 में जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा के चुनावों को जिस तत्परता और सुचारूरूप से सम्पन्न किया गया है, उससे निर्वाचन आयोग तथा मुख्य चुनाव आयुक्त जे०एम० लिंगदोह की निष्पक्षता, दृढ़ता और कार्य कुशलता की पूरी–पूरी प्रशंसा की गई है।

2.2.3 भारत में चुनाव आयोगः संरचना एवम् संगठन

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान की धारा 324 (2), (3) और (4) में निर्वाचन आयोग की रचना तथा संगठन का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार हैंः–

(अ) निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा कुछ अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे, जिनकी संख्या राष्ट्रपति समय–समय पर निर्धारित करेगा। चुनाव आयोग के समस्त सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति संसद द्वारा इस सम्बन्ध में निर्मित कानून की धाराओं के अनुसार करेगा। अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति होने की अवस्था में मुख्य निर्वाचन आयुक्त चुनाव आयोग का सभापति होगा।

(ब) चुनाव आयोग की सहायता के लिए लोकसभा व राज्य विधानमण्डलों के चुनावों से पूर्व राष्ट्रपति को प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त नियुक्त करने का अधिकार होगा।

(स) राष्ट्रपति संसद् द्वारा इस सम्बन्ध में निर्मित कानून के अनुसार निर्वाचन आयुक्तों तथा प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के कार्यकाल तथा सेवाकाल सम्बन्धी शर्तें भी निश्चित करेगा।

व्यवहारिक स्थिति

सन् 1951 में पहली बार संविधान के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया गया और उसी समय से निर्वाचन आयोग 'एक सदस्यीय आयोग' केरूप में कार्य करता रहा। 1952 में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की गई। प्रादेशिक निर्वाचन उपयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम–चुनाव के समय इसे निरस्त कर दिया गया। सन् 1956 में प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त के पद सृजित किये गए। विभिन्न चुनावों में उपनिर्वाचन आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है। वैसे यह संवैधानिक पद नहीं है, इसका उल्लेख जन प्रतिनिधि अधिनियम में किया गया है। सन् 1957, 1962 तथा 1967 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उपनिर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गई है। 1969 के मध्यावधि चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप–निर्वाचन आयुक्त, अपर सचिव, शोध अधिकारी, आदि पद उपलब्ध कराए गए हैं।

16 अक्तूबर 1989 को राष्ट्रपति ने निर्वाचन आयोग को और अधिक मजबूत बनाने के लिए दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। परन्तु 2 जनवरी 1990 को राष्ट्रपति ने चुनाव आयुक्तों केरूप में श्री एस०एस० धनोवा तथा श्री वी०एल० सैगल की नियुक्तियों को रद्द कर दिया, इसके साथ ही बहुसदस्यीय आयोग फिर एक सदस्यीय हो गया। अक्तूबर, 1993 में केन्द्र सरकार ने दो नए चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति पर चुनाव आयोग को तीन सदस्यीय बनाने का महत्वपूर्ण कदम उठाया। राष्ट्रपति ने अध्यादेश जारी कर कृषि सचिव जी०वी०जी० कृष्णमूर्ति का चुनाव आयुक्त नियुक्त किया। चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने सम्बन्धी विधेयक को संसद ने 20 दिसम्बर 1993 को पास कर दिया। 14 जुलाई 1995 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपना ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए टी०एन० शेषन का यह दावा रद्द हो गया कि वह चुनाव आयोग में सर्वोच्च हैं। अपने फैसले के साथ ही न्यायालय ने यह आशा व्यक्त की कि आयोग के सदस्य अब एक–दूसरे के प्रति सन्देह की भावना से ऊपर उठकर सद्भावना पूर्ण वातावरण में कार्य करेंगे।

2.2.4 कार्यकाल तथा सेवा सम्बन्धी शर्तें

सन् 1972 से पहले मुख्य निर्वाचन आयुक्त के कार्यकाल और सेवा शर्तें के बारे विशेष व्यवस्था नहीं थी। परन्तु 1972 में यह कानून बना दिया गया कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक या 6 वर्ष तक (जो पहले पूर्ण हो जाए) रह सकता है। अक्तूबर 1973 को चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने की अधिसूचना के आधार पर 'मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा–शर्ते) अधिनियम 1991' में संशोधन किया गया। इस संशोधन किया गया। इस संशोधन के उपरान्त वेतन एवं अन्य सेवा शर्तों के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश के समकक्ष हो गए। अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन को भी परिभाषित किया गया। केवल पद नाम को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है, निर्णय अब एकमत से लिए जा सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुक्तों में से किसी मामले पर मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा। इसी अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों का वेतन भी समान (30,000रूपये) हो गया। मुख्य चुनाव आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जायेगा जिन कारणों और रीति से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या

असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग–अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जाएगा। उसके पश्चात् राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्यूति का आदेश जारी करेगा। अभी तक किसी भी मुख्य चुनाव आयुक्त को समय से पहले नहीं हटाया गया है। मुख्य चुनाव आयुक्त को पद ग्रहण करते समय कोई शपथ नहीं लेनी पड़ती। उसे सेवानिवृति के पश्चात् केन्द्र तथा राज्यों में किसी भी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

2.2.5 चुनाव आयोग के कार्य

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना निर्वाचन आयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुखरूप से उसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता हैः–

1. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन करनाः– चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन करना निर्वाचन आयोग का सर्वप्रथम कार्य है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुई, अतः संसद ने 'परिसीमन आयोग अधिनियम, 1952' पारित कर यह प्रावधान किया कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों की अवकाश प्राप्त न्यायाधीश इसके सदस्य होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान हैं। ये सहायक सदस्य राज्य से लोक सभा या राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता के सुझावों व आपत्तियों को खुली बैठकों में विचार–विमर्श किया जाता है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है, इसके विरूद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।
2. मतदाता सूचियाँ तैयार करना – चुनाव आयोग के द्वारा प्रत्येक जनगणना के बाद और आम चुनाव या मध्यावधि चुनाव से पूर्व मतदाताओं की सूची में संशोधन किए जाते हैं। इन सूचियों में नए मतदाताओं के नाम शामिल किए जाते हैं और जो नागरिक मर चुके हैं, उनके नाम इस सूची से निकाले जाते हैं। मतदाता सूची तैयार होने पर चुनाव आयोग द्वारा जनता की तरफ से आपत्तियाँ मांगी जाती हैं और उन्हें दूर किया जाता है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि कोई भी मताधिकार की योग्यता रखने वाला व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे।
3. राजनीतिक दलों को मान्यता देना – चुनाव आयोग का यह एक महत्वपूर्ण कार्य है कि वह समय–समय पर पिछले आम चुनावों में मिले मतों के आधार पर राष्ट्रीय और राज्य स्तर के दलों को मान्यता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध मे आयोग द्वारा कोई भी आधार निश्चित किया जा सकता है और इसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। जैसे 1997 में चुनाव आयोग ने लोकसभा के चुनावों के अवसर पर 7 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय स्तर पर और 36 राजनीतिक दलों को राज्य स्तर पर मान्यता दी थी। 1999 में 13वीं लोकसभा चुनावों के अवसर पर 6 राजनीतिक दल राष्ट्रीय स्तर पर और 48 राजनीतिक दल क्षेत्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त थे। 29 दिसम्बर, 2000 को चुनाव आयोग ने 6 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एवं 44 को राज्य स्तरीय दल केरूप में मान्यता प्रदान की।
4. राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना – निर्वाचन आयोग राजनीतिक दलों को चुनाव चिन्ह आरक्षित करता है। यदि चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर यदि किन्हीं दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों

में कोई विवाद पैदा हो जाता है तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से निपटारा करेगा और अगर कोई राजनीतिक दल या उसके प्रत्याशी आयोग द्वारा निश्चित किए गए व्यवहार के आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं तो चुनाव आयोग उनकी मान्यता रद्द भी कर सकता है, यह व्यवस्था 16 फरवरी, 1994 को चुनाव आयोग ने 1968 के चुनाव चिन्ह सम्बन्धी आदेश में संशोधन करके की। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

5. पुनः मतदान कराना या चुनाव रद्द करना – चुनाव आयोग देश के किसी भी क्षेत्र में पुनः मतदान कराने के आदेश दे सकता है और किसी उप चुनाव को रद्द कर सकता है। जैसे मार्च 1990 में चुनाव आयोग ने हरियाणा में मध्य विधानसभा उप–चुनाव को रद्द करने का फैसला लिया था। इसी प्रकार 19 मई, 1993 को हरियाणा में कालका विधानसभा उप–चुनाव को रद्द कर दिया था। अप्रैल–मई, 1996 में लोकसभा चुनाव में प्रारम्भिक रिपोर्टो के आधार पर चुनाव आयोग ने 2024 से अधिक मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान करवाने का निर्णय लिया था, जिसमें अकेले बिहार में 1274 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान हुआ। फरवरी, 1998 का चुनाव आयोग ने 9 राज्यों के 599 मतदान केन्द्रों पर पुर्नमतदान के आदेश दिए। तेरहवीं लोकसभा चुनाव के प्रथम दौर (6 सितम्बर, 1998) के बाद 184 स्थानों तथा दूसरे दौर (12 एवं 13 सितम्बर) के मतदान के बाद 94 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान के बाद 94 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान के आदेश दिए गए थे।
6. स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव के लिए आवश्यक निर्देशन देना – चुनाव आयोग स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों, अधिकारियों, उम्मीदवारों तथा सरकारों को आवश्यक निर्देश जारी करता है। उदाहरण के लिए जनवरी, 1994 में चुनाव आयोग ने यह निर्देश जारी किया कि सभी प्रत्याशी चुनाव के लिए नामांकन पत्र भरने से लेकर चुनाव परिणाम घोषित होने तक खर्च का लेखा–जोखा आयोग ने राज्य तथा संघीय क्षेत्रों की सरकारों का निर्देश दिया कि 12वीं लोकसभा की चुनावी प्रक्रिया पूर्ण होने तक अन्य पिछड़े वर्ग की सूचियों में कोई परिवर्तन न किया जाए, सरकारी अधिकारियों के स्थानांतरण पर रोक तथा प्रधानमंत्री के अतिरिक्त अन्य मंत्रियों के सरकारी जहाज के प्रयोग पर रोक लगाने सम्बन्धी निर्देश जारी किया। 21 जनवरी, 1998 को चुनाव आयोग ने मतदान व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव की आशंका को देखते हुए यह निर्देश दिया कि संभावित परिणामों के सम्बन्ध में अनुमानित सर्वेक्षण प्रकाशित नहीं किए जाने चाहिए।
7. चुनाव कानून व आचार संहिता के उल्लंघन के आरोपों की जांच करना – चुनाव आयोग द्वारा चुनाव आचार संहिता के उल्लंघन सम्बन्धित अरोपों की जांच की जाती है। उदाहरणस्वरूप नवम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव की घोषणा के बाद मध्य प्रदेश व गुजरात सरकारों पर कुछ वर्गों को रियायत देने के आरोप पर चुनाव आयोग ने तत्परता से इसकी जांच के लिए कदम उठाए थे। इसी प्रकार फरवरी, 1995 में छः विधानसभाओं के चुनावों की घोषणा के बाद बिहार सरकार द्वारा कर्मचारियों के तबादलों पर चुनाव आयोग ने सरकार को इन तबादलों से दूर रहने के निर्देश जारी किए थे।
8. अर्द्धन्यायिक कार्य – संविधान द्वारा अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति से संसद के सदस्यों तथा अनुच्छेद 192 के अन्तर्गत राज्यपालों से विधानमण्डलों के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध में चुनाव आयोग परामर्श कर सकता है।
9. अन्य कार्य – निर्वाचन आयोग को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं, जो इस प्रकार हैंः–
    - चुनाव आयोग स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए पर्यवेक्षकों को नियुक्त करता है, जैसे अक्तूबर 2002 में जम्मू कश्मीर विधानसभा चुनावों में पर्यवेक्षकों को नियुक्त किया था।

- केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा चुनाव कार्यों के लिए दिए गए कर्मचारियों को नियंत्रित करना।
- चुनाव आयोग सीमा निर्धारण आयोग की लेख सम्बन्धी गलतियों को ठीक कर सकता है।
- राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना।
- राजनीतिक दलों को पंजीकृत करना। जैसे 30 सितम्बर 2000 तक चुनाव आयोग के पास 682 राजनीतिक दलों के नाम पंजीकृत थे।
- चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।
- चुनाव आयोग को चुनाव–सम्बन्धी सभी मामलों पर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त है।
- चुनाव आयोग विभिन्न चुनाव क्षेत्रों में चुनाव करवाने की तिथि निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग राज्यों के मुख्य चुनाव अधिकारियों पर चुनाव से सम्बन्धित नियन्त्रण रखता है।
- चुनाव आयोग चुनाव करवाने के लिए रिटर्निंग अफसरों तथा सहायक रिटर्निंग अफसरों को नियुक्त करता है।
- चुनाव आयोग मनोनयन पन्नों के दाखिले की अन्तिम तिथि निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग उम्मीदवारों के नाम वापस लेने की तिथि भी निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग संसद तथा राज्य विधानमंडलों के सदस्यों के चुनाव का पूरा प्रबन्ध करता है।
- राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के पदों पर चुनाव करवाने का काम भी आयोग को सौंपा गया है।
- चुनाव आयोग मत–पेटियों की सुरक्षा तथा मतों की गिनती निष्पक्षता से करवाने के लिए उत्तरदायी है।
- चुनाव आयोग मतदान के लिए मतदान केन्द्र स्थापित करता है।
- चुनाव आयोग राष्ट्रपति के क्षेत्रीय चुनाव आयोगों की नियुक्ति के बारे में परामर्श दे सकता है।
- चुनाव आयोग समय–समय पर चुनाव में सुधार करने के लिए सुझाव देता है। उदाहरणतया मार्च, 1988 में चुनाव आयोग ने सरकार से इलैक्ट्रॉनिक मशीन, मतदाता की आयु 18 वर्ष करने व चुनाव क्षेत्रों के पुनर्गठन करने आदि के बारे में आग्रह किया। निर्वाचन आयोग ने बहु–उद्देशीय पहचान–पत्र और चुनाव याचिकाओं के शीघ्र निपटारें के लिए तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करने की भी सिफारिश की।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय–समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा।

2.2.6 निर्वाचन आयोग की आलोचना

भारत में समय–समय पर चुनाव आयोग की भूमिका पर उंगलियाँ उठती रही हैं और इसकी निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता के लिए इसकी आलोचना होती रही है जैसे 1971 के लोकसभा चुनाव के बाद चुनाव आयोग पर आरोपों में वृद्धि हुई और नवम् लोकसभा चुनाव (नवम्बर 1989) के दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाए गए। आयोग के बारे में निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं:–

1. निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल का कठपुतली केरूप में – सैद्धान्तिकरूप से यह कहा जाता है कि भारत में चुराव की तिथियों व समय चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित की जाती है, परन्तु मूलरूप से ये तिथियाँ सत्तारूढ़ दल की इच्छा व लाभ को मध्यनजर रखते हुए निश्चित की जाती है, जैसे 22 जून 1991 को पंजाब में लोकसभा व विधानसभा के चुनाव होने थे। 21 जून प्रातः मुख्य चुनाव आयुक्त टी०एन० शेषन ने 25

सितम्बर के लिए मतदान स्थगन की घोषणा कर दी क्योंकि कांग्रेस (ई) ने इन चुनावों का बहिष्कार किया था। अगर 22 जून को चुनाव हो जाते तो कांग्रेस को 22 मतों की कमी पड़ने लगती। शेषन कांग्रेस के लिए अल्पमत की पूर्ति तो नहीं कर सके, परन्तु अल्पमत की वृद्धि रोक सके।

2. मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति पर आलोचना – आलोचकों के अनुसार इस पद के लिए आमतौर पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है जैसे सुकुमार सेन और के०वी०के० सुन्दरम् दोनों ही भारतीय लोकसेवा के सदस्य थे। श्री एस०पी० जेन वर्मा कानून विभाग के सचिव तथा टी० स्वामीनाथन केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सचिव थे। इस पद पर उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जो शासक दल के प्रति निष्ठावान होते हैं और जो उनके कहे हुए कार्यों को किसी भी कीमत पर करने को तैयार रहते हैं।

3. मुख्य निर्वाचन आयुक्त की योग्यताओं सम्बन्धी आलोचना – संविधान में मुख्य निर्वाचन आयुक्त की योग्यताओं का कोई वर्णन नहीं किया गया है और न ही नियुक्ति प्रक्रिया को परिभाषित किया है। यह सब कुछ राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है। भारत में संसदीय शासन प्रणाली के अनुसार इसकी नियुक्ति की जिम्मेदारी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में निहित है। अतः इसकी नियुक्ति में राजनीतिक प्रभाव की संभावना है।

4. निर्वाचन आयोग के पास स्वतन्त्र कर्मचारी तंत्र का न होना – निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वयं का कर्मचारी तंत्र नहीं है। निर्वाचन कार्यों के लिए आयोग के राज्य के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति इतने समर्पित नहीं होते हैं। जैसे नौंवी लोकसभा चुनाव के समय प्रधानमंत्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में फर्जी मतदान तथा बूथ पर कब्जा करने की घटनाएँ हुई, उससे स्थानीय कलैक्टर और पुलिस सुपरिन्टेंडेंट की उदासीनता को देखते हुए चुनाव प्रक्रिया सम्पन्न होने से पूर्व ही उनका स्थानान्तरण कर्मचारीतंत्र की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दाफाश कर देता है।

5. मुख्य निर्वाचन आयुक्त को बिना उसकी योग्यताओं और पूर्ववर्ती सफलताओं को महत्व दिए वह दर्जा देना, जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा महालेखा परीक्षक को प्राप्त है, न्याय की दृष्टि से गलत है।

6. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों तथा महालेखा परीक्षक के लिए तो पद ग्रहण की शपथ लेना जरूरी है, परन्तु मुख्य चुनाव आयुक्त के लिए यह अनिवार्य नहीं है।

7. यदि महालेखा परीक्षक तथा लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष को सेवा निवृत्ति के पश्चात् कोई सरकारी नौकरी स्वीकार करने का अधिकार नहीं तो उसी स्तर के इस पदाधिकारी को यह छूट देना सैद्धान्तिकरूप से गलत है।

2.2.7 निष्कर्ष

इन आलोचनाओं के बावजूद भी चुनाव आयोग की अहम् भूमिका रही है। भारत में अभी तक 13 आम चुनाव हो सके हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्र में परिसीमन के कार्य से लेकर निर्वाचन अधिनियम तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कुशलता निष्पक्षता तथा ईमानदारी से निभाया है। आर०पी० भल्ला के अनुसार, ''देश के प्रशासनिक ढांचे में निर्वाचन आयोग ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। शिकायत होने की अवस्था में कोई भी राजनीतिक दल या उम्मीदवार या नागरिक इसका सहारा लेने में संकोच नहीं करता। इसने जनता में यह विश्वास उत्पन्न किया है कि निर्वाचन पद्धति उन्हें अपनी पसन्द का सरकार का निर्माण करनेक में हर संभव सहायता देगी। देश की कुछ प्रमुख संस्थाओं में निर्वाचन आयोग एक ऐसी संस्था है जिसके काम की देश की भीतर तथा बाहर श्लाधा हुई है।'' इस प्रकार से चुनाव आयोग की निष्पक्षता एवं कुशलता इन उदाहरणों से झलकती है, जब 1996 में आम चुनाव के दौरान आचार संहिता के पालन के वजह से दिल्ली किराया कानून लागू नहीं किया जा सकता। जनवरी 1998 में आचार संहिता के कारण टाटा एयरलाइन्स को विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड की अनुमतिरूक गई। जनवरी 2000 में निर्वाचन आयोग ने बिहार सरकार के वर्ष 2000–2001 बजट को पेश करने पर लगाई और कहा कि इस समय ऐसा करना आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन करना है। आयोग के निर्देश पर राबड़ी सरकार राज्यपाल के अभिभाषण में प्रमुख नीतिगत घोषणाएँ न करने पर सहमत हो गई। इसी प्रकार अक्तूबर 2002 में जम्मू–कश्मीर विधानसभा चुनावों को जिस तत्परता और सुचारू ढंग से पूर्ण किया गया। इस प्रकार के उदाहरणों से चुनाव आयोग की प्रतिष्ठा ओर भी बढ़ जाती है।

2.2.8 मुख्य शब्दावली

- निर्वाचन आयोग
- जमानत
- समिति
- अध्यादेश
- परिसीमन

2.2.9 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. भारत में चुनाव आयोग की संरचना व संगठन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. चुनाव आयोग के कार्यकाल व सेवा संबंधी शर्तों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में चुनाव आयोग के मुख्य सुधारों पर टिप्पणी कीजिए।
4. चुनाव आयोग के कार्यों पर एक संक्षिप्त नोट लिखे।

2.2.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.2 जातिवाद

(Casteism)

2.2.1 परिचय

प्रोफेसर वी०के० मेनन का यहाँ कथन ठीक है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से राजनैतिक क्षेत्र में जातिवाद का प्रभाव दिन–प्रतिदिन बढ़ रहा है। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति और प्रशासन में वृद्धि हुई है। कुछ विद्वान यह सोचते हैं कि भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के कारण, जिसके अनुसार पाश्चात्य ढंग की राजनैतिक संस्थाएँ और लोकतन्त्रीय मूल्य अपनाए गए हैं, जातिवाद का अन्त हो जाएगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं दिखाई देती। रजनी कोठारी का इस विषय में मत है कि – प्रथम, कोई भी सामाजिक ढाँचा कभी भी पूरी तरह से समाप्त नहीं होता। इसलिए यह सोचना कि भारत में जाति का लोप हो जाएगा, गलत है। दूसरे, जाति–व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन के विकास में कोई बाधा नहीं डालती, बल्कि उसकी वृद्धि करने में सहायक होती है। राज्य स्तर की राजनीति में जाति और समुदाय शासन की निर्णय प्रक्रिया को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार से दबाव–समूह करते हैं। भारत की राजनैतिक व्यवस्था की एक विशेषता है कि राजनीतिज्ञ निश्चितरूप से जाति की नीति का तो विरोध करते हैं, परन्तु चुनाव के समय जाति के आधार पर ही वोट माँगते हैं।

2.3.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में जाति के उद्‌भव को समझना।
- भारतीय राजनीति में जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार को जानना।
- भारतीय राज्यों में जाति के प्रमुख समूहों के बारे में जान पाएगें।
- भारतीय शासन प्रणाली पर जाति के प्रभावों का मूल्यांकन कर पाएगें।

2.3.3 भारतीय राजनीति में जाति का उदय और प्रभाव

भारत में जाति–व्यवस्था एक प्राचीन संस्था है। ब्रिटिश काल में स्वतन्त्रता संग्राम के समय जातिवाद का प्रभाव कम होने लगा था। परन्तु स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद जातिवाद का प्रभाव फिर बढ़ने लगा है। यद्यपि संविधान के द्वारा भारत को एक धर्म–निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है परन्तु राजनीतिक और सामाजिक जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो जातिवाद से प्रभावित न हो।

संविधान के वयस्क मताधिकार द्वारा जो भी नागरिकों को देश की राजनीति में भाग लेने का अधिकार दिया उससे निम्न और मध्य स्तर के लोगों में राजनैतिक शक्ति के प्रति लगाव पैदा हुआ। इससे जातियों के प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि होने लगी। शुरू में तो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उच्च जातियाँ ही राजनीति में प्रभावित रही और राजनैतिक शक्ति उन्हीं तक सीमित रही, परन्तु समय के विकास के साथ मध्यम और निम्न जातियाँ भी राजनैतिक प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न करने लगी। दूसरे, संविधान के द्वारा नागरिकों को जो समानता का अधिकार दिया गया उससे भी निम्न जातियों में राजनीतिकरण हुआ। इस प्रकार भारत की राजनैतिक व्यवस्था में जातिवाद का उदय लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के विकास केरूप में हुआ है। प्रो०रूडोल्फ के अनुसार, ''भारत के राजनैतिक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गई है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।'' तीसरे, डॉ० इकबाल नारायण के अनुसार जातीय राजनीति को प्रोत्साहन जातीय संरक्षण की उस व्यवस्था में भी मिला है जिसके द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित कबीले आदि को संरक्षण दिया गया है। इस व्यवस्था ने

जाति को प्रभावशाली बनाया और राजनीति पर जाति की पकड़ और भी मजबूत हो गई है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि जातिवाद की राजनीति का उदय और विकास स्वतन्त्र भारत में हुआ है।

2.3.4 जाति का राजनैतिकरूप

(Political Dimensions of Caste)

प्रोफेसर रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'Case in Indian Politics' में भारतीय राजनीति में जाति का वैज्ञानिक ढ़ंग से वर्णन किया है। उनके अनुसार राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है जबकि जाति या बिरादरी को राजनीति के द्वारा देश की व्यवस्था में भाग लेने का अवसर मिलता है। राजनीतिज्ञ की जातिवाद से लाभ उठाते है।

जाति–व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में डॉ० रजनी कोठारी ने जाति–प्रथा के तीनरूपों का वर्णन किया है

1. जाति–व्यवस्था का लौकिकरूप (Secular Aspect of Caste System)–जाति–प्रथा के लौकिकरूप का डॉ० कोठारी ने व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। उनका कथन है कि जाति–व्यवस्था की सामाजिक बातों, जैसे जाति के अन्दर विवाह, रीति–रिवाज आदि, को तो मान्यता दी गई है परन्तु इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि जातियों में आपसी गुटबन्दी रही है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा तथा पद को बढ़ाने का प्रयत्न करती है। उदाहरण के लिए, विभिन्न राज्यों में, विशेषकर बिहार में, ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों के मध्य लगातार संघर्ष चलता रहता है। जाति–व्यवस्था के लौकिक पक्ष के दोरूपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम, शासकीयरूप अर्थात् जाति की पंचायत और गाँव की पंचायत। दूसरे, राजनैतिकरूप, जिसमें जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और जातियों से गठजोड़ होता रहता है। इन जातियों का सम्बन्ध अब लोकसभा और विधानसभाओं से हो गया है।

2. जाति–व्यवस्था का एकीकरणरूप (Integrting Aspect of Caste System)– जाति का दूसरा राजनैतिकरूप एकीकरण या समाज को बाँधने का है। जाति–प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान तथा व्यवसाय और भूमिका निश्चित कर देती है। सभी मनुष्यों को जाति के प्रति लगाव रहता है और यही लगाव राजनैतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित होता है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करती हैं। भारत की लोकतन्त्रीय व्यवस्था में सत्ता प्राप्त करने के लिए जातियों में प्रतिद्वन्द्विता होती है, गठजोड़ होते हैं जो बदलते रहते हैं।

3. जाति–व्यवस्था का चैतन्यरूप (Consciousness Aspect of Political System)– जाति–व्यवस्था का तीसरारूप चेतन बोध है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के कारण जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और उनकी समाज में विशेष प्रतिष्ठा भी होती है। इस कारण वे अन्य जातियों को अपने साथ जोड़ने की कोशिश करती है। इससे व्यवहार में अलग–अलग स्तर पर जाति–व्यवस्था में लोच आ जाती है। इस कार्य के लिए चाार साधन अपनाए जाते हैं। प्रथम, संस्कृतिकरण, जिसके अनुसार छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीति–रिवाजों की नकल करती है। इसे ब्राह्मणीकरण कहा जाता है। दूसरे, लौकिकीकरण, जिसके अनुसार अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति छोड़ देती है। यें जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरूषों से जोड़ने का प्रयत्न करती है। तीसरे, राजनीति में भागीदारी का ढ़ंग है। इसमें कुछ जातियाँ राजनीति में भाग लेने लगीं और उन्हें समाज में उच्च स्थिति प्रापत हो गई। आन्ध्र प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जातियों की राजनीति में स्थिति परिवर्तित होती रहती है।

2.3.5 जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरण

(Three Stages of Interaction between Caste and Politics)

डॉ० कोठारी ने जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरणों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैः

1. प्रथम चरण – प्रथम चरण में शक्ति और प्रभाव की प्रतिष्ठित जातियों तक ही सीमित रहे। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बने का प्रयत्न किया वे प्रतिदिन जातियों में गिनी जाने लगी। इन जातियों ने अधिकार और पद को प्राप्त करने के लिए राजनैतिक संगठन बनाए जिसके कि दो जातियों में प्रतिद्वन्द्वता आरम्भ हो गई। उदाहरण के लिए मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण के मध्य, राजस्थान में राजपूत और जाटों के मध्य, आन्ध्र प्रदेश में कमा और रेड़ी के मध्य प्रतिद्वन्द्विता चलती रही।

2. दूसरा चरण – इस चरण में पद और लाभ के आकांक्षियों की संख्या में वृद्धि हुई और विभिन्न जातियों में प्रतिद्वन्द्वता के साथ–साथ जाति के अन्दर भी गुट बनने लगे। प्रतिद्वन्द्विता नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए अन्य जातियों को भी राजनैतिक पद और लाभ में हिस्सा देकर मिलाने का प्रयत्न किया जाता है। कभी–कभी विभिन्न जातियोंमें भी प्रतिस्पर्धा पैदा करने के लिए संगठन बनाए जाते हैं। इस चरण में ब्राह्मण और कायस्थों के स्थान पर व्यावसायिक और कृषक जातियों के नेताओं के संख्या में वृद्धि हुई।

3. तीसरा चरण – तीसरे चरण में एक ओर तो राजनैतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति–पाति से लगाव कम हुआ वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये–शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे। लोग काम–धन्धों के लिए शहरों में जाकर बसने लगे जिससे कि जाति की भावना ढ़ीली पड़ने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनैतिक संस्थाओं का ढ़ाँचा व्यापक होने लगा और जाति को नयारूप प्राप्त हुआ। आधुनिक राजनीति में भाग लेने की दृष्टि में परिवर्तन हो गया। जात अब राजनैतिक समर्थन या शक्ति का आधार नहीं रही यद्यपि इसका अधिक–से–अधिक प्रयोग हो रहा है। इस चरण में चुनाव की राजनीतियों में अनेक जातियों का गुट बनता है। इससे स्पष्ट है कि तीसरे चरण में जातिवाद की राजनीति में परिवर्तन हो गया है।

इस वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति और राजनीति ने एक–दूसरे को प्रभावित किया है। रजनी कोठारी के अनुसार, ''राजनीति में जातिवाद और जाति का राजनीतिकरण दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ दिखाई देती हैं।

डॉ० कोठारी के अनुसार राजनीति में जाति सम्बन्धी निष्कर्ष का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता हैः

(1) वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में भाग लेने के काण पहले तो जाति–प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनैतिक संगठन में सहायता दी।

(2) राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हो गया। वे समझ गए कि केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता है। इस लिए उन्होंने विभिन्न जातियों के साथ मेल करना शुरू किया जिससे कि जाति–भावना ढ़ीली पड़ने लगी।

(3) जातियों के आधार पर संगठन बनते हैं और वे दबाव–समूहोंक के रूप में कार्य करते हैं।

(4) जातियों और सम्प्रदायों के फलस्वरूप विभिन्न जातियों में राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ है जिससे उनकी पृथकता कम हो गई और उनका राजनैतिक एकीकरण हुआ है।

जाति के राजनीतिकरण की विशेषता

भारतीय राजनीति में जाति की विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

(1) जाति व्यक्ति को बाँधने वाली कड़ी है जिसने जातिय संघों और जातीय पंचायतों की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जैसे लिगांयत, कबीर पंथी, सिक्ख आन्दोलन आदि।

(2) शिक्षा, शहरीकरण और आधुनिकीकरण में जातियाँ समाप्त नहीं हुई है परन्तु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है।

(3) राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका इस आधार पर निर्भर है कि किसी क्षेत्र में उस जाति की संख्या कितनी है।

(4) जातियों में गुटबन्दी के कारण विभिन्न जातियों को कुछ सुविधाएँ प्रदान होती है।

(5) चुनाव में राजनीतिज्ञ जातियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

(6) जाति और राजनीति के सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं।

(7) जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर पर इतनी प्रभावशाली नहीं है जितनी कि स्थानीय राजस्तर पर है।

2.3.6 भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका

(Role of 'Caste' in Indian Politics)

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है'। हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वालों एक तत्व हैं।'

जति–व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे–धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्परूप व्यस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थाएं सहायक महत्वपूर्ण बन गयी क्योंकि उनके पास भरी संख्या में मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुंचने के लिए सम्पर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा में बात की जाए जो उनकी समझ में आ सके। जाति–व्यस्था इस बात को प्रकट करती थी। इस पृष्टभूमि का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है:

1. निर्णय प्रक्रिया के जाति की प्रभावक भूमिका (Influential Role of Caste in Decision Making Process): भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए है जिनके कारण से जातियां सगठित होकर सरकार पर दबाव डालती हैं कि इन सुविधाओंक को अधिक वर्षों के लिए अर्थात जनवरी 2010 तक के लिए बढ़ा दिया जाए। अन्य जातियां चाहती है कि आरक्षण समाप्त किया जाए अथवा इसका आधार सामाजिक आर्थिक स्थिति ही अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाए ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जाए।

2. राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय (Caste oriented decisions at the level of Political Parties)- भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गतधत का अवश्य

विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्रपार्टी की सफलता का राज उसका क्षेत्रीय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन–मुसलमान–ब्राह्मण शक्तिपुंज बनकार ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 197 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसका मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के समय लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण था कि श्रीमती गांधी हरिजन, ब्राह्मण और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयी। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश और बिहार में जनता दल की अपूर्व विजय का एक कारण जाट–राजपूत समर्थन था। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलाों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्द्धा विद्यामान रहती हैं।

''लोगों की जाति–पाति के प्रति निन्दा को राजनीतिज्ञों ने थोक वोट के रूप में देखा, सत्ता में आने के लिए सदनों में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिज्ञों ने जाति–पाती के आधार पर उम्मीदवारों के चयन और सत्ता में आने पर उन्हें मन्त्रिपद एवं अन्य लाभ के पद उपलब्ध कराए।''

3. जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार (Caste oriented voting behavior)– भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्राों में जातिवादी भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों मे उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरणसिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों को एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों से भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

''मंडल विवाद के कारण 1990–91 में समाज जाति के आधार पर दो भागों में बंट गया और गावों शहरों में जातियुद्ध या छिड़ गया। राजनीतिक पार्टियाँ सिर्फ एक चुनावी मुद्दे प्रश्चात करने लगी–पिछड़े बनाम आगडें का।

भाजपा के अयोध्या आन्दोलन की प्रतिक्रिया में देश के दो बड़े राज्यों–उत्तर प्रदेश और बिहार में जहां लोकसभा की 139 सीटे हैं, एक अनूठे सामाजिक, राजनीतिक गठजोड़ का जन्म हुआ जिसके जनक क्रमशः मुलायमसिंह यादव और लालू प्रसाद यादव थे। मुसलमानों और यादवों को मिलाकर बने इस 'माइ' गठजोड़ से दोनों राज्यों के मतदाताओं का एक बड़ा हिस्सा एकजुट हो गया।

जिस प्रकार जापान ने मतदान समूह–निर्धारित (Group determinant) है, ब्रिटेन में यह वर्ग निर्धारित है, अमेरिका में यह प्रजाति निर्धारित है, उसी प्रकार भारत में जाति निर्धारित है जो जातियां जातिय संस्तरण में सबसे नीचे है, उनके लिए मतदान की प्रक्रिया कई प्रकार से एक शक्तिशाली क्रिया हो सकती है। जाति का सामाजिक व आर्थिक स्तर जिनका निम्न होगा उतना ही उनके मत का अधिक महत्व होगा। कोहन, मेयर, कोठारी, वर्मा और भांभरी, रामाश्रय राय आदि आदि अनेक विद्वानों के भारत में कहन अध्ययनों से पता चलता है कि जातियां अपनी मत शक्ति के कारण प्रभाव डालने में सक्षम भूमिका निभाती रही है और शक्ति सौदेबाजी के लाभ प्राप्त करती रही है। ये जातियां राजनैतिक संस्थाओं में उच्च जातियों के नेतृत्व की चुनौती देती रही है, यद्यपि उन्हें सदैव सफलता प्राप्त नहीं होती है। रजनी कोठारी की भी मान्यता है कि जातियां अपनी पहचान बनाए रखती है और सत्ता के लिए संघर्ष करती है। आन्द्रे बेतेई ने कहा है कि मतदान में जाति निष्टाओं (loyalties) का शोषण किया जाता है। जातियों को तोड़कर नवीन गठबन्धन भी स्थापित होते हैं।रूडोल्फ (Rudolph) का मत है कि जाति संघों ने जाति की स्फूर्ति प्रदान की है और भारत

में जनतन्त्र ने जातियों को महत्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाने के योग्य बनाया है। जाति संगम (Federations) एक जाति से ही नहीं बल्कि अनेक जातियों से मिलकर बनते हैं। कभी–कभी उनके राजनैतिक उद्देश्य एक समान होते हैं, उदाहरणार्थ, हरियाणा में गूजरों, जाटों और राजपूतों ने 1989 के चुनावों में इसी प्रकार के जाति संगम बना लिए थे।

डी.एल. सेठ (Economic and Political Weekly, January 1970) ने 1967 मे भारत क विविध चुनाव क्षेत्रों के 2287 व्यक्तियों का अध्ययन यह पता लगाने के लिए किया कि मतदान को प्रभावित करने वाले कौन–कौन से कारक है। उन्होंने अपने अध्ययन से पाया कि केवल 1.0% मामलों में परिवार के वृद्ध जनों की सलाह को महत्त्व दिया गया, 20% मामलों में पारिवारिक विचार–विमर्श को, और 49% मामलों में मतदाता के स्वयं के निर्णय को महत्व प्रदान किया गया था। 4% मामलों में निर्धारक कारक का निश्चित ज्ञान न हो सका। इसके विपरीत उसी वर्ष पूना में 1000 व्यक्तियों के इसी प्रकार के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि जाति ने 58% प्रभावित किया, 42% मामलों में धन ने, 36% मामलों में पार्टी संगठन ने, 21% में पार्टी विचारधारा (Ideology) ने तथा 21 मामलों में प्रत्याशी की पृष्ठभूमि ने प्रभावित किया। रामाश्रय राय ने 1969 मे चारा राज्यों–बिहार, उत्तर–प्रदेश, पंजाब व पश्चिम बंगाल में हुए मध्यावधि चुनावों का एक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 14% मामलों में समूह के दबाव (जाति और परिवार) ने मतदान को प्रभावित किया, जबकि 23% मामलों में प्रत्याशी की ख्याति ने, 38% मामलों में पार्टी निष्ठा ने, और 9% मामलों में विविध कारकों, ने 15% मामलों में सही कारक का पता न लग सका।

चुनाव के लिए प्रत्याशी के चुनने में राजनैतिक दल अकसर चुनाव क्षेत्र की जाति–संरचना पर अधिक ध्यान देते हैं। इस तथ्य ने अनेक निम्नस्तरीय–जातियों को उनकी संख्यात्मक शक्ति के आधार पर राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली बना दिया है। 1960 व 1970 के दशकों में भारत में सम्पन्न हुए चुनाव पर हुए अध्ययन से ज्ञात होता है कि: (1) मध्यस व निम्न जाति के लोग कांग्रेस की और झुके हुए थे, (2) उच्च जाति के लोग विरोधी दलों का चोट देले के पक्ष में थे और (3) अनुसूचित जाति के लोग कांग्रेस के पक्ष में थे। किन्तु 1980 दशक के अन्त में और 1990 दशक के आरम्भ के चुनावों में उपरोक्त सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हुए। कोठारी ने हाल में लिखा है कि राष्ट्रीय राजनीति में जाति का महत्व कम होता जा रहा है। हैरोल्ड गुल्ड (Economic and Political Week August, 1977) भी इसी विचार के है कि भारत में अब राजनीतिक निर्धारक के रूप में जाति का महत्व कम हो रहा है। परन्तु कुछ विद्धानों को मान्यता है कि दिसम्बर 1994 में उस राज्यों में होने वाले चुनावों में दो तीन राज्यों में जाति का वोटो पर प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। आज जो वास्तविक कारक मतदाता को प्रभावित करते हैं उनमें से कुछ अचेतन व कुछ संचेत शक्तियां हैं, जिनमें से कुछ को सरलता से पहचाना जा सकता है, जबकि दूसरी भ्रामक है, यद्यपि वे भी समानरूप से महत्वपूर्ण निर्धारक हो सकता है।

(4) मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व (Case representation in the ministry making)- राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धस गया है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। यहां तक कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मण, जाटों, राजपूतों और कास्थों को किसी न किसीरूप में स्थान अवश्य दिया जाता है। हाल ही में अजीतसिंह को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में जातीय पृष्टभूमि और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में जातीय समीकरण को पुख्ता करने की मंशा से ही शामिल किया गया है।

(5) जातिगत दबाव समूह (Caste as Pressure Groups)- मेयर के अनुसार, ''जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रस्तृत है।'' जातिगत दबाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए

नीति निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाएजाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षेत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों मेंरूचि लेने लगते हैं और अपने–अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातियां इस प्रकार संगठित नहीं हो सकी, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रहीं और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़–फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

(6) जाति एवं प्रशासन (Castes and Administration) – लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इन्जीनियरिंग कॉलेजों की भर्ती हेतू आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरण सिंह सरकार ने भी अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों केलिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की थी और इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की भी ताक में रख दिया था। यदि यह अध्यादेश लागू हो मध्यम जातियों, जैसे अहीर, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जायें। राष्ट्रीय मोर्चो सरकार ने अगस्त 1991 में मण्डल रिपोर्ट लागू कर नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय तथा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

(7) राज्य राजनीति में जाति (Caste in State Politics) – माईकल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीतिक की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों को अछूती नहीं रही है तथापित बिहार, केरल तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति के राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा जातियां है। पृथक झारखण्ड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही रही है।

राज्य की मांग ही रही है। केरल में साम्यवादी की सफला का राज यही है कि उन्हांने इजावहा जाति को अपने पीछे संगठिमत का लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने सामयवादी दल का समर्थन दिया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महरों में प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियां प्रभावी हैं–पाटीदार और क्षेत्रिय। केरल की राजनीति में अन्तिम दो समुदायों के इर्द–गिर्द घूमती रही है–हिंदू क्रिश्चियन और मुसलमान। केरल की राजनीति से अन्तिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय है। कहने की तो वहां सभी प्रकार के राजनीतिक दल हैं, किन्तु उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन है। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, साम्यवादी दलों में इजावाहा जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप में राज्यों की राजनीति में शांति का प्रस्ताव इतना अधिक प्रतीत हो रहा है कि टिंकर जैसे विद्वानों ने राज्यों की राजनीति को जातियों की राजनीति की संज्ञा दे डाली है।

देश के सर्वाधिक आबादी वाले राज्यों उत्तर प्रदेश और बिहार में जाति की राजनीति ज्यादा ही खुलकर सामने आती रही। उत्तर प्रदेश में चरणसिंह और बिहार में कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जात–पात की खुलकर बढ़वा दिया। देवी लाल ने भी हरियाणा में जाति की बैसाखियों पर ही सत्ता के शिखर छूने का प्रयास किया। बिहार में

लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व में जाति की राजनीति की जड़ मजबूत हुई, तो उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव व कांशीराम को प्रतिनिधि मायावती ने अपने–अपने जातीय केन्द्र बैंकों के आधार पर राज्य की जातीय संघर्षों को और धकेल दिया।

2.3.7 भारत के राज्यों में जाति एवं राजनीति

(1) तमिलनाडुः

यद्यपि जाति के प्रति निष्ठा प्रत्येक राज्य में पाई जाती है, परन्तु मद्रास में यह सबसे अधिक उग्ररूप में है। मद्रास में ब्राह्मणों का एक वर्ग बन गया जो ब्राह्मणों के अस्तित्व का ही विरोधी है। इस वर्ग के उदय ने द्रविड़ों के पृथक्तावादी आन्दोलन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। मॉरिस जोन्स (Morris Jones) के कथनानुसार, ''यह कहा जा सकता है कि प्रायः सभी स्थानों पर राजनीतिक सम्बन्धों में जाति के प्रति वफादारी एक कारक के रूप में पाई जाती है, मद्रास जैसे राज्य में ब्राह्मणों के वेगपूर्ण उदय ने राज्य की राजनीतिक में प्रधानता ही प्राप्त नहीं की है, वरन् द्रविड़ स्थान के प्रथकतावादी आन्दोलन में महत्वपूर्ण योग दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के रूप में हुई है।'' (It can said while caste loyality is almost everywhere present as a factor of political relations, in a State like Madras, the rapid rise of the non-Brahmins has not merely dominated the whole shape of Madras politics but has in particulars made a significant contribution to the movement for Dravidian separatism now expressed by the Dravid Munetra Kadgham.)

1909 में मार्ले–मिण्टो सुधारों के लागू होने के पश्चात् मद्रास में भी साम्प्रदायिकता की लहर फैली। 1909 से पूर्व मद्रास में गैर–ब्राह्मण जातीय समूहों की वहां की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। गैर–ब्राह्मण लोगों के तिों की उपेक्षा की जाती थी। ऊंचे–ऊंचे पदों पर ब्राह्मण ही आसीन थे। धीरे–धीरे गैर–ब्राह्मण जातीय समूहों में जागृति पैदा हुई। श्री शंकरन नायर, श्री पी. थेगोरायो चेट्टी तथा डॉ. टी. एस. नायर जैसे नेताओं ने गैर–ब्राह्मण आन्दोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप 1916 में जस्टिस पार्टी (Justice Party) की स्थापना हुई।

जस्टिस पार्टी का उद्देश्य मद्रास में ब्राह्मणों को सत्ता में आने से रोकना था। गैर–ब्राह्मणों का विचार था कि यदि तत्कालीन परिस्थितियों में 'श्वशासन' (Self Government) की स्थापना हुई तो ब्राह्मणों का शासन स्थापित हो जाएगा। इतना ही नहीं, वे कांग्रेस पार्टी को भी ब्राह्मणों की पार्टी मानते थे। दूसरी ओर कांग्रेस जस्टिस पार्टी के विरूद्ध थी, क्योंकि जस्टिस पार्टी का लक्ष्य बड़ा संकुचित थ। जस्टिस पार्टी ने मुस्लिम लीग की तरह गैर–ब्राह्मणों के लिए पृथक चुनाव क्षेत्राों के लिए आन्दोलन शुरू किया और उन्हें सफलता भी मिली। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन विधानसभा में जस्टिस पार्टी के लिए स्थान सुरक्षित रखे गए। पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के फलस्वरूप जस्टिस पार्टी की शक्ति में वृद्धि हुई।

बाद में 'द्रविड़ कड़गम' (Dravid Kadham) की नींव पड़ी। 'द्रविड़ कड़गम' आन्दोलन के जन्मादाता श्री रामास्वामी नायर थे। श्री सी. एन. अन्नादुराई उनके मुख्य सहायक थे। 'द्रविड़ कड़गम पार्टी' ने छोटे स्तर के लोगों की भावनाओं को उत्तेजित किया और उन्हें उत्तरी भारत के लोगों के विरूद्ध एक शक्ति के रूप में खड़ा कर दिया। 1938 में मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार स्थापित हुई और हिन्दी का अनिवार्य विषय (Compulsory Subject) का दर्जा दिया गया। यहां से मद्रास में हिन्दी–विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। रामास्वामी नायर ने 72 वर्ष की आयु में 28 वर्ष की युवती से शादी कर ली, जिस पर सी. एम. अन्नादुराई के नेतृत्व में बहुत लोगों ने 'द्रविड़ कड़गम' पार्टी को छोड़ दिया और नई पार्टी 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम' की स्थापना की। अन्नादुराई ने दक्षिण एवं उत्तर के प्रश्न पर पार्टी का संगठन किया। 1967 में इस पार्टी को भारी सफलता मिली और अन्नादुराई के नेतृत्व में 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम' की सरकार बनी। 1972 में 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम' में फूट पड़ गइ और एक नए दल अद्रमुक (A.D.M.K) का निर्माण हुआ। 1977, 1980, 1985 और 1991 के चुनाव में अद्रमुक का

स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और इस दल की सरकार का निर्माण हुआ। अतः तमिलनाडु में जातिवाद की प्रमुख भूमिका रही है।

(2) कर्नाटकः

कर्नाटक अर्थात् मैसूर में जातिवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। कर्नाटक राज्य की 5 करोड़ की जनसंख्या में लगभग 42 जातियां हैं, जिनमें लिंगायत तथा ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण प्रभाव है। यहां विभिन्न राजनीतिक दलों, शिक्षा–संस्थाओं, जातीय कोष, पंचायतों आदि द्वारा जातीयता को बढ़ावा दिया गया है। मैसूर में मठाधीश राजनीति में सक्रियरूप से भाग लेते हैं तथा चुनावों को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक नेता इस धार्मिक नेताओं से सम्बन्ध बनाए रखते हैं, ताकि चुनाव के समय इनका लाभ उठाया जा सके। आज तक वहां पर वहीं मुख्यमंत्री सफल रहा है जिसने जातीय हितों के लिए कार्य किया है। 1947 के चुनाव में के.पी. रेड्डी मुख्यमंत्री बने, जो वोक्कालिग जाति के थे। 1950 में मैसूर 'बी' वर्ग के राज्यों में आ गया और कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना। 1952 मे मैसूर विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और हनुमन्तैयया अपनी जाति (वोक्कालिग) के समर्थन के आधार पर मैसूर के मुख्यमंत्री बने। हनुमन्तैयया की सरकार ने अपनी जाति के हितों की ओर ध्यान न देकर सार्वजनिक हितों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें त्याग–पत्र देना पड़ा। 1957 के पश्चात् सत्ता वोक्कालिगों के हाथ से निकल कर लिंगायतों के हाथ आ गई, क्योंकि 1957 में कन्नड़–भाषा क्षेत्र को मैसूर में सम्मिलित किया गया। निजलिंगप्पा मैसूर के मुख्यमंत्री बने, परन्तु उन्हें 15 महीने के बाद ही त्याग–पत्र देना पड़ा क्योंकि उन्होंने मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् जातिवाद के स्थान पर उदारवादीरूप अपनाया था। 1962 के चुनाव के पश्चात् निजलिंगप्पा पुनः मुख्यमंत्री बने और उनके मन्त्रिमण्डल में अधिकांश सदस्य लिंगायत जाति के थे। निजिलिंगप्पा के बाद बी.डी. जत्ती और एस.आर. कान्ति मुख्यमंत्री बने और इन दोनों मुख्यमंत्रियों के काल में लिंगायतों का प्रभाव रहा। 1967 के चुनाव के पश्चात् वीरेन्द्र पाटिल मुख्यमंत्री बने। इस प्रकार 1972 तक लिंगायतों का प्रभाव बना रहा। 1972 के चुनाव में श्रीमती गांधी ने नेतृत्व में कांग्रेस को मैसूर में सफलता मिली और देवराज अर्स को मुख्यमंत्री बनाया गया। अतः कर्नाटक की राजनीति में जातिवाद का बोलबाला है।

(3) बिहारः

तमिलनाडू व कर्नाटक के समान बिहार की राजनीति में भी जाति का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है और आज भी है। डॉ. सुभाष कश्यप् के विचारानुसार, बिहार उन राज्यों में से है, जहां सबसे पहले जाति का राजनीतिकरण हुआ। ब्रिटिश शासनकाल में बिहार को एक पृथक प्रान्त बनाने के कायस्थ जाति की महत्वाकांक्षाओं का विशेष योग था। इस जाति ने बिहार की सारी नागरिक संस्थाओं पर अपनी प्रभुता स्थपित कर रखी थी। कायस्थ शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हुए थे और अधिकांश सरकारी नौकरियों पर और विधि, चिकित्सा तथा अध्यापन जैसे व्यवसायों में भी उन्होंने अपना अधिपत्य जमा रखा था। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहारों, राजपूतों और ब्राह्मणों की प्रभुसत्ता थी। आज भी बिहार की राजनीति पर जाति का बहुत प्रभाव है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का राजनीतिक क्षेत्र में काफी प्रभाव है। राजपूतों और भूमिहरों में आपस में सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं।

बिहार में जाति–आधार पर हमेशा कांग्रेस में गुटबन्दी की राजनीति पनपी है। जातीय गुटबन्दी न केवल सरकार में बल्कि कांग्रेस के संगठन में भी रही। कांग्रेस का एक गुट एस. के. सिन्हा का समर्थन करता था तथा दूसरा गुट ए. के. सिन्हा का। पं. जवाहर लाल नेहरू ने 1952 में स्वयं हस्तक्षेप किया, जिसके फलस्वरूप कांग्रेस के दोनों गुटों ने एस. के. सिन्हा को अपना नेता मान लिया। 1956 में जातीय गुटबन्दी का बहुत बोलबाला था। कांग्रेस हाईकमाण्ड ने 'पाटस्कर कमीशन' (Patskar Commission) को नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि के. वी. सहाय के अपने दल के ही उम्मीदवार ए. पी. सिन्हा ने के. वी. सहाय के विरुद्व कार्य किया। 1962 में बिहार ही राजनीति में परिवर्तन आया, जब विनोदानन्द को कांग्रेस विधायक दल का नेता चुना गया। विनोदानन्द ने नेता चुने

जाने पर ब्राह्मणों और भूमिहरों के सम्बन्धों में तनाव आ गया। 1967 के चुनाव के पश्चात् किसी दल को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। अतः संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी, जिसके नेता महामाया प्रसाद सिन्हा थे। परन्तु महाया प्रसाद की सरकार के विरुद्व अविश्वास प्रस्ताव पास होने पर कांग्रेस ने शोषित दल के साथ मिलकर सरकार बनाई। परन्तु यह सरकार भी अधिक दिनों तक न चल सकी और भोला पासवान शास्त्री बिहार के मुख्यमंत्री बने। यह दूसरा अवसर था जब पिछड़ी जाति का कोई व्यक्ति मुख्यमंत्री बना। यह सरकार भी अधिक दिन न चली और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मध्यावधि चुनाव के पश्चात् भी कोई सरकार स्थायर न बन सकी।

(4) हरियाणाः

हरियाणा की राजनीति जातियों की राजनीति से अलग नहीं है। उदाहरण के लिए गुड़गांव और महेन्द्रगढ़ के जिलों में अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देता है, अन्य किसी को नहीं। यही बात राज्य के अन्य लोगों की अन्य जाति समूहों पर भी लागू होती है। चुनावों के समय प्रायः यह नारा सुनाई पड़ता है – ''जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।'' जाति की यह बीमारी केवल हिन्दुओं में ही नहीं, बल्कि मुसलमान भी अपनी जाति के उम्मीदावार को ही वोट डालते हैं। जून 1991 अप्रैल, 1996ए 1997 और 2000 मे विधानसभा के चुनाव में जाति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर किया गया और मतदान को भी जाति ने बहुत अधिक प्रभावित किया।

(5) पंजाबः

पंजाब की राजनीति में सामाजिक और व्यावसायिक दृष्टि में रहने वाले क्षेत्रीय जाति के लोग अधिक प्रभावशाली रहे हैं। पिछले 30 वर्षों में पंजाब की राजनीति पर जाट जाति का नियन्त्रण हो गया है। जाट जाति का प्रभाव बढ़ने के दो कारण हैं – (1) गांवों में जाटों की जनसंख्या बहुत अधिक है और (2) सिखों के धार्मिक मामलों पर अधिकतर जाटों का नियन्त्रण है। प्रताप सिंह कैरों, सन्त फतेह सिंह, गुरनाम सिंह, लछमन सिंह गिल, ज्ञान सिंह राड़ेवाला सभी जाट जाति के थे और आज भी जाट का प्रभुत्व है।

अकाली दल जाति और धर्म के नाम पर चुनाव में लोगों से वोट मांगता है। 1967 के विधानसभा के आम चुनाव में अकाली दल को भारी सफलता मिली और जस्टिस गुरनाम सिह के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। परन्तु अकालियों की आपसी फूट और श्रीमती इन्दिरा गांधी की राष्ट्रीय नीति के कारण मध्यावधि चुनाव में अकालियों को कोई विशेष सफलता न मिली और कांग्रेस की सरकार बनी। 1977 के चुनाव में अकाली दल को महान सफलता मिली और श्री प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में अकाली दल ने जनता पार्टी के साथ मिलकर सरकार का समर्थन किया। सितम्बर, 1985 में पंजाब विधानसभा के चुनाव में अकाली दल को महान सफलता मिली और अकाली दल के नेता व अध्यक्ष सरकार सुरजीत सिंह बरनाला मुख्यमंत्री बने। वास्तव में आकाली दल की सफलता जाटों पर निर्भर करती है। फरवरी, 1992 मे पंजाब विधानसभा के चुनावों का सभ अकाली दलों ने बहिष्कार किया और जाटों व सिखों को चुनावों में भाग लेने से मना किया, जिस कारण केवल 28 प्रतिशत ही मतदान हुआ और कांग्रेस (इ) के बेअंत सिंह के नेतृत्व में सरकार बनी। बेअंत सिंह की हत्या के बाद जाट समुदाय के हरचरण सिंह बराड़ पंजाब के मुख्यमंत्री बने। 1997 में पंजाब विधानसभा के चुनाव में अकाली दल को बहुमत प्राप्त हुआ और अकाली दल के नेता प्रकाश सिंह बादल मुख्यमंत्री बने।

2.3.8 निष्कर्ष

जाति व्यवस्था एक सामाजिक बुराई है जो प्राचीन काल से भारतीय समाज में मौजूद है। लम्बे समय से विद्वानों व आम नागरिकों ने इसकी आलोचना कर रहे हैं, लेकिन फिर भी जाति व्यवस्था ने हमारे देश के सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखी है। काका कालेलकर के अनुसार ''जाजिवाद एक अबाधित अंध और सर्वोच्च समूह भक्ति है जो कि न्याय, औचित्य, समानता और विश्व बंधुत्व की उपेक्षा करता है।'' उपरोक्त जातिवाद की परिभाषा से स्पष्ट है कि, जातिवाद एक संकीर्ण भावना है।

2.3.9 मुख्य शब्दावली

- जातिवाद
- सम्प्रदाय
- आरक्षित सूची
- दबाव समूह
- पृथक् निर्वाचन

2.3.10 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति का क्या महत्व है? व्याख्या कीजिए।
2. भारतीय राजनीति को जाति कैसे प्रभावित करती है, वर्णन कीजिए।
3. भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका व प्रभावों का वर्णन कीजिए।

2.3.11 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.4 धर्म एवं साम्प्रदायिकता

(Religion and Communalism)

2.4.1 परिचय

भारतीय संविधान ने भारत को धर्म–निरपेक्ष (Secular) राज्य घोषित किया है। परन्तु स्वतंत्रता–प्राप्ति के 46 वर्ष के बाद भी धर्म–निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं हो सकी। देश में साम्प्रदायिकता एक संक्रामक रोग की तरह फैल रही है। धार्मिक विभिन्नताओं के कारण तनाव पैदा होते रहते हैं, हिंसात्मक कार्यवाही होती हैः लोगों की हत्यायों की जाती हैं तथा सम्पत्ति को लूटा व जलाया जाता है। जो समुदाय पहले कभी एक–दूसरे के समीप रहे हैं तथा जिनमें शादी–विवाह जैसे सामाजिक सम्बन्ध थे और जो अपने बच्चों को सहयोगी धर्म में बदलवा लिया करते थे, वे भी साम्प्रदायिकता की लपेट में आ गए हैं। साम्प्रदायिकता भारत के लोकतंत्र के लिए एक अभिशाप है। यदि इस समस्या का निराकरण नहीं किया गया, तो यह घातक सिद्ध होगी।

2.4.2 उद्देश्य

- साम्प्रदायिकता के अर्थ को जानना।
- भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के कारणों को समझना।
- धर्म और राजनीति को समझना।
- साम्प्रदायिकता के प्रभावों को जानना।

2.4.3 साम्प्रदायिकता का अर्थक
(Meaning of Communalism)

'साम्प्रदायिकता' शब्दा का साधारण अर्थ सामाजिक–धार्मिक समूह की वह प्रवृत्ति है जिसके अनुसार वह अपनी सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के दूसरे ऐसे ही समूहों की तुलना में बढ़ाता है। विसेट स्मिथ के अनुसार, ''एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति–समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक या भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनैतिक इकाई मानता है जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं या विरोधी भी हो सकते हैं।'' भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में 'साम्प्रदायिकता' शब्द नकारात्मकरूप में समझा जा सकता है। साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व कार्य शामिल हैं जिसमें किसी धर्म या भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाता है और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर भी प्राथमिकता दी जाए तथा उस समूह में पृथकता की भावना पैदा हो जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए।

सम्प्रदावादी दृष्टिकोण राष्ट्र–विरोधी दृष्टिकोण तक हो सकता है। उनको राष्ट्र–विरोधी इसलिए कहा जा सकता है कि वे राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करके ऐसी मांगों के लिए कार्यवाही कर सकते हैं जो राष्ट्र की अखण्डता के लिए हानिकारक हों। भारत में साम्प्रदायिकता एक भयंकर समस्या है। इसके समूल नाश के लिए पहले यह आवश्यक है कि इसके उदय के कारणों को जाना जा, इसके सभी पहलुओं–सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक का अध्ययन किया जाए और उन्हें दूर करने के उचित कदम उठायें जाएँ।

2.4.4 भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता
(Communalism in Indian Politics)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले जहाँ भारत में साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू–मुस्लिम दंगे एक आम बात थी, वहाँ इसके कारण अब भी दंगे होते रहे हैं। प्रमुख समुदायों ने अपने को साम्प्रदायिक तथा धार्मिक कट्टरता के आधार पर

संगठित किया है जिससे कि विभिन्न समुदायों में लड़ाई–झगड़े तथा हिंसात्मक कार्यवाहियाँ होती हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता तथा मौलिकतावाद में दिन–प्रतिदिन वृद्धि हो रही है जिसका प्रभाव देश की राजनीति पर पड़ रहा है। उनकी विचारधारा से उत्पन्न उनके कार्यों का उल्लेख निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

1. साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence): भारत एक सम्प्रदाय बहुल–राष्ट्र हैं जिसमें हिन्दुओं की जनसंख्या सबसे अधिक है। इसके बाद मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि हैं। इस प्रकार हिंदुओं को छोड़कर शेष अल्पसंख्यक हैं। इस दृष्टि से भारत को अल्पसंख्यकों का देश कहा जा सकता है। इसी कारण साम्प्रदायिकता एक भंयकर समस्या बन गई है। स्वतन्त्रता–प्राप्ति, 1947 से लेकर द1978 तक 9,500 साम्प्रदायिक घटनाएँ घटी जिनमें 150 व्यक्ति मारे गए तथा 2,953 घायल हुए। ये साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण तथा उत्तर भारत दोनों में ही हुए। 1978 में आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु में दंगे हुए। 1982 में हिन्दुओं और ईसाइयों के मध्य कन्याकुमारी में दंगे हो गए थे। दिसम्बर, 1982 में हैदराबाद तथा ट्रावनकोर कोचीन में झगड़े हुए। 1979 में कश्मीर, बिहार, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा, असम, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में भी दंगे हुए। इस वर्णन से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक दंगे भार के किसी एक क्षेत्र तक सीमित न होकर सम्पूर्ण देश में होते रहते हैं। दंगों के लिए अलीगढ़, मेरठ, मुरादाबाद, बड़ौदा तथा हैदराबाद विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। 1984 में भी पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में कुछ दंगों को छोड़ कर सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिक स्थिति अपेक्षाकृत शान्त रही। 1990 में भारत में भयंकररूप से साम्प्रदायिक दंगे हुए और हिंसात्मक घटनाएँ हुई। दिसम्बर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद के ढाँचे को गिराने के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता की भावना को बहुत ही प्रबल शक्ति प्राप्त हुई तथा स्थान–स्थान पर साम्प्रदायिक दगे भी हुए। इसी साम्प्रदायिक की भावना के कारण बम्बई में बम विस्फोट काण्ड हुआ जिसमें सैकड़ों लोगों की जानें गयीं। बम्बई के दंगों के विषय में ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हजारों लोग इन दंगों में मारे गए। कहने का अर्थ यह है कि भारत की राजनीति में साम्प्रदायिकता अपना भंयकररूप धारण कर चुकी है।
2. पंथों सम्बन्धी दंगे (Sectarian Riots): धर्म के आधार पर सम्प्रदायों में अनेक पंथ भी हैं जिसमें आपस में दंगे रहते हैं। उदाहरण के लिए, लखनऊ में शिया और सुन्नियों (जो मुस्लिम सम्प्रदायों के पंथ हैं) में प्रतिवर्ष झगड़े होते हैं। कानपुर और अमृतसर में सिक्खों और सिक्खों के ही पंथ राधास्वामियों के मध्य दंगे होते हैं। यद्यपि सिक्किम में कोई दंगे नहीं हुए परन्तु वहाँ दो संगठन–लेपचा तथा भूटियों के संगठित हो रहे हैं। मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा आदि में कबीलों और गैर–कबीलों में झगड़े हो जाते हैं।
3. मुस्लिम बहुमत क्षेत्र का गठन (Creation of Muslim Majority Region): सम्प्रदाय के आधार पर क्षेत्र का गठन बहुत हानिकारक है। परन्तु केरल में एक जिला मुस्लिम बहुमत का बनाया गया। केरल में 1982 में ईसाई बहुमत जिले की मांग की गई थी।
4. धार्मिक स्थानों पर राजनैतिक उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग (Misuse of Religious Places for Political Purposes): धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग भी साम्प्रदायिकता का एकरूप है। उदाहरण के लिए अकाली दल अमृतसर के 'स्वर्ण मंदिर' का दुरुपयोग राजनैतिक मांगों की पूर्ति के लिए कर रहा था। बहुत–से उग्रवादी मंदिर में रहते हुए राष्ट्र–विरोधी गतिविधियों में भाग ले रहे थे। परिणामस्वरूप, भारत सरकार को उग्रवादियों को मन्दिर से निकालने के लिए सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी।

2.4.5 भारत में साम्प्रदायिकता के कारण (Causes of Communalism in India)

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने नीतियों में बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को रोकने के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाते हुए सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि संविधान

ने भारत को एक धर्म–निरपेक्ष राज्य घोषित किया, परन्तु 43 वर्ष के बाद साम्प्रदायवाद की समस्या के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने भले ही भारत को धर्म–निरपेक्ष घोषित किया हो परन्तु धर्म–निरपेक्ष समाज की स्थापना करने में असफल रहे। भारत में सम्प्रदायवाद के कारणों का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता हैः

1. औपचारिक विरासत (Colonial Legacy): स्वतंत्रत भारत को सम्प्रदायवाद की समस्या का एक विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। ब्रिटिश सरकार ने भारत में 1857 ई० के प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन के बाद शासन नीति का आधार 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) निश्चित किया था। अंग्रेज 1857 के विद्रोह को मुस्लिम विद्रोह मानते थे, यद्यपि इस विद्रोह में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया था। इस कारण उन्होंने मुसलमानों के विरोध और दमन की नीति अपनाई तथा हिन्दुओं को गले गलाया। जब भारत में राष्ट्रवाद की भावना बढ़ने लगी तो उसे रोकने के लिए मुसलमानों का समर्थन आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों के समर्थन पर ही सर सैयद अहमद खाँ ने 1857 ई० में अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कॉलेज की स्थापना की जिसके प्राचार्य एक अंग्रेज आर्कवोल्ड नियुक्त किए गए। गवर्नर–जनरल लॉर्ड कर्जन ने मुसलमानों को खुश करने तथा उनकी राज–भक्ति प्राप्त करने के लिए 1905 ई० में बंगाल का विभाजन किया जिसके अनुसार मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त का निर्माणर किया गया। यद्यपि 1911 ई० में इस विभाजन को समाप्त कर दिया परन्तु सम्प्रदायवाद का आरम्भ हो चुका था। ब्रिटिश सरकार के ही सुझावों पर 1906 ई० में मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा के लिए 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई। इसी प्रकार गवर्नर–जनरल लॉर्ड मिण्टों के सुझावों पर भारत परिषद् कानून, 1909 के द्वारा मुसलमानों को जहाँ साम्प्रदायिक चुनाव की व्यवस्था की गई वहाँ उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक विधान–परिषद्ों में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। भारत सरकार ने कानून, 1919 के द्वारा सिक्खों, यूरोपयिन तथ आंग्ल–भारतीयों के लिए अलग से प्रतिनिध चुनने की व्यवस्था की। मैकडोनाल्ड अवार्ड 1932 के द्वारा हरिजन वर्ग को अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जिसे पूना पैक्ट के द्वारा संशोधित कर दिया गया।

   भारत सरकार कानून, 1935 के अनुसार 1937 में प्रान्तों की विधान–सभाओं के जो चुनाव हुए उनमें मुस्लिम लीग को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। मुस्लिम लीग और उसके प्रमुख नेताओं जिन्ना ने मुसलमानों में सम्प्रदायवाद का जोरदार प्रचार किया। 1940 में मुस्लिम लीग ने अलग राष्ट्र पाकिस्तान की मांग की। यह मांग भी ब्रिटिश सरकार के समर्थन पर की गई थी। 1940–47 के मध्य ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार की स्थिति पैदा कर दी जिससे मुस्लिम सम्प्रदायवाद इतना तीव्र हो गया कि भारत का विभाजन निश्चित हो गया। विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसमें लाखों हिन्दू तथा मुसलमान मारे गये। बहुत से मुसलमान पाकिस्तान चले गए। जो भारत में रह गये उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा। इससे उनकी राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

2. राष्ट्रीय आन्दोलन की नकारात्मक विरासत (Negative Legacy of National Movement): साम्प्रदायिकता की समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन के नकारात्मक विरासत के रूप में मिली है। भारत में राष्ट्रवाद के उदय से पहले विभिन्न समुदायों, विशेषरूप से हिन्दू और मुसलमानों, में धार्मिक सुधार आन्दोलन शुरू हुए थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता को श्रेष्ठ मानने लगा। इधर भारत मे राष्ट्रवाद का उदय ब्रिटिश सरकार की उपनिवेशवादी नीतियों के विरूद्ध हुआ था। इस कारण भारतीय लोग विदेशी धर्म (ईसाई), विदेशी संस्कृति और विदेशी शासन का विरोध कर रहे थे। इस विरोध के कारण भारत में एक नये प्रकार के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जैसे–जैसे राष्ट्रवाद की भावना में तीव्रता आई, धर्म और संस्कृतिक का आधार मजबूत होता गया। उग्रवादी काल में उग्रवादी नेताओं ने हिन्दू धर्म के

आधार पर ही अपने को संगठित किया जिसे मुसलमानों ने संदेह की दृष्टि से देखा। ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति ने इस संदेह की भावना को साम्प्रदायिकता की भावना में बदल दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ–साथ साम्प्रदायिक प्रक्रिया भी बढ़ती रही। महात्मा गांधी ने जब असहयोग आन्दोलन चलाया तो उसके साथ खिलाफत आन्दोलन भी चलाया गया। खिलाफत आन्दोलन का उद्देश्य साम्प्रदायिक था। इसका प्रभाव भविष्य में हानिकारक हुआ। ब्रिटिश सरकार की नीति सफल हो रही थी और वे काफी सीमा तक मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने में सफल हो रहे थे तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का विशाल वृक्ष बना रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1947 में भारत का विभाजन हो गया। पाकिस्तान का निर्माण ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता के आधार पर हुआ है।

3. मुसलमानों में अलग रहने की भावना (Muslim's Tendency to keep Aloof): स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मुसलमान अपने को राष्ट्रीय धारा में शामिल नहीं कर सके। अनेक मुस्लिम नेताओं ने इस बात का प्रचार किया कि मुसलमानों को ऐसे राजनैतिक दलों में शामिल होना चाहिए जो धर्म–निरपेक्षता, समाजवाद और आर्थिक न्याय में विश्वास करते हैं। परन्तु इसका उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत, अनेक मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के हितों से रक्षा के लिए मुस्लिम संगठनों में शामिल होने का प्रचार किया। जमायते इस्लमा ने मुसलमानों का सलाह दी कि उन्हें चुनाव में भाग नहीं लेना चाहिए। सन् 1961 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई और प्रचार किया गया कि वही मुसलमानों के हितों की रक्षा कर सकती है। कहने का अर्थ यह है कि मुसलमानों में जो राष्ट्रीय धारा से अलग रहने की प्रवृत्ति है उससे सम्प्रदायवाद की वृद्धि होती है।

4. मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन (Economic Backwardness of the Muslims): अंग्रेजों के शासनकाल में वैसे तो सारा भारतवर्ष ही आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था, परन्तु मुसलमान लोग हिन्दुओं से अधिक पिछड़े हुए थे। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद यह आशा की गई थी कि मुसलमान अवसरों का पूरा लाभ उठाएँगे, परन्तु वे ऐसा न कर सके। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार और उद्योग–धन्धों में उनकी स्थिति नहीं सुधरी। उनका आधुनिकीकरण नहीं हो गया है। हिन्दुओं और मुसलमानों में आर्थिक दृष्टि से बहुत अन्तर हो गया है। मुसलमान यह समझते हैं कि उनका आर्थिक शोषण किया जा रहा है। इससे उनमें असन्तोष पैदा होता है, सम्प्रदायवाद की वृद्धि होती है, जो कभी भी हिंसा कारूपले लेती है।

5 पाकिस्तान द्वारा प्रचार (Propaganda by Pakistan): पाकिस्तान की स्थापना इस आधार पर की गई थी कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं जो आपस में मिलकरी नहीं रह सकते। पाकिस्तान की स्थापना के बाद यह आशा की जाती थी कि वह अपने राष्ट्र निर्माण के लिए कार्य करेगा और भारत के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, परन्तु पाकिस्तान अपने को भारत के मुसलमानोंका रक्षक समझता है। इसी कारण भारत में जब कभी हिन्दू–मुस्लिम तनाव की कोई घटना हो जाती है तो पाकिस्तान रेडियो और समाचार–पत्र इसका बड़े जोर–शोर से प्रचार करते हैं। पाकिस्तान भारत सरकार की आलोचना करता है और हिन्दुओं को ही उत्तरदायी ठहराता है। इससे भारतीय मुसलमानों की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

6. संकुचित हिन्दु राष्ट्रवाद (Hindu Fanaticism): भारत में हिन्दू सम्प्रदाय में भी ऐसे लोग और संस्थाएँ हैं जो संकुचित राष्ट्रवाद में विश्वास रखते हैं। वे सभी मुसलमानों को भारत के विभाजन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। हिदू महासभा ऐसा ही संगठन है। वह प्रचार करती है कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दुओं को ही इस देश में रहने का अधिकार है। इससे हिन्दुओं में सम्प्रदायवाद की भावना पैदा होती है। हिन्दुओं में

सम्प्रदायवाद का विकास मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। इसका परिणाम यह होता है कि हिन्दू मुस्लिम दंगे हो जाते हैं जिससे सम्प्रदायवाद को और भी प्रोत्साहन मिलता है।

7. सरकार की उदासीनता (Indifferent Attitude of the Goverenment): सरकार और प्रशासन की उदासीनता के कारण भी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। ऐसे क्षेत्र में, जिनमें दंगे हो चुके हैं, भविष्य में नियंत्रण के लिए सरकार उचित व्यवस्था नहीं करती। इसके अलावा, मुसलमानों की छोटी–सी शिकायत कि उर्दू के लिए उचित प्रचार नहीं हो रहा है आज तक दूर नहीं की गई। जो संगठन सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देते हैं उन पर भी रोक नहीं लगाई गई है।

8. साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाएँ(CommunalInstitutions): देश में अनेक शिक्षा संस्थाएँ, जैसे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय, साम्प्रदायिक आधार पर बनाई गई है। ये संस्थाएँ विशेष सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा चलाई जाती हैं, उसी सम्प्रदाय के अध्यापक और प्राध्यापक इनमें नियुक्त किए जाते हैं तथा उनके माध्यम से सम्प्रदायवाद का प्रचारकिया जाता है। ऐसी संख्याएँ – हिन्दू कॉलेज, हिन्दू स्कूल, मुस्लिम स्कूल, मुस्लिम कॉलेज, ईसाई स्कूल, ईसाई कॉलेज, खालसा स्कूल, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़, हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस आदि हैं।

9. धार्मिक कट्टरता (Religious Fanaticism): विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कट्टरता भी सम्प्रदायवाद में वृद्धि करती है। उदारण के लिए, बड़ौदरा में 1981–82 में 15 हिन्दू–मुस्लिम दंगे हुए। गणपति, नवरात्रि और ताजिया जुलूस निकाले गए। शिवाजी जयनती, जो पहले कभी नहीं मनाई गई थी, बड़े जोर–शोर से मनाई गई थी। इसी प्रकार केरल में रातो रात गिरजाधर बना दिया गया।इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता से भी सम्प्रदायवाद को बढ़ावा मिलता है।

10. सामाजिक कारण (Social Causes): भारत में सम्प्रदायवाद के विकास के कारणों मेंसे एक कारण सामाजिक कारण भी है। भारत में मुसलमान हिन्दुओं को अपने धर्म में परिवर्तित करते हैं, उससे भी दोनों सम्प्रदायों में तनाव पैदा होता है।

11. राजनैतिक कारण (Political Causes): स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद मुसलमान लोग भी स्थानीय क्षेत्र की राजनीति में भाग लेने लगे हैं, जिसे कुछ साम्प्रदायिकता हिन्दू नेता पसन्द नहीं करते। आपसी राजनैतिक तनाव साम्प्रदायिक तनाव में बदल जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में सम्प्रदायवाद के अनेक कारण हैं। भारत की एकता और अखण्डता के लिए आवश्यकता है कि सभी सम्प्रदाय आपस में मिलकर रहें और अपने सम्प्रदाय के हितों को राष्ट्रीय हितों से ऊपर न समझें। यद्यपि सम्प्रदायवाद की समस्या एक सामाजिक समस्थ्या थी परन्तु वह अब राजनैतिक समस्या बन चुकी है जो राष्ट्र के लिए बहुत हानिकारक है। इससे विघटनकारी शक्तियाँ पैदा होती हैं जो राष्ट्र की अखंडता के लिए हानिकारक है। यदि समय रहते सम्प्रदायवाद को समाप्त नहीं किया गया तो राष्ट्र की अखंडता खतरे में पड़ सकती है।

2.4.6 धर्म और राजनीति में अन्तः क्रिया
(Interactions Between Religion and Politics)

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में 'धर्म और साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति में जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहां दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीति शक्ति की अधारशिला उनके अपने–अपने सम्प्रदायों में अनुयायियों का संख्या बल है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलों, उन्हें दिए जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन

तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के 55 वर्षों के बाद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐसा एकीकरण विद्यमान था, उदाहरणार्थ, हिन्दुओं और सिक्खों में, वहाँ भी इसेरूढ़िवाद एवं साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए विरोध का खतरा पैदा हो गया है। धर्म और सम्प्रदाय पंथ निरपेक्ष संविधान अपनाए जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करते रहे हैं।

1. धर्म और राजनीतिक दलः स्वाधीनता के बाद पंथ और सम्प्रदाय के आधार पर भारत में राजनीतिक दलों का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद, हिन्दू महासभा, आदि राजनीतिक दलों के निर्माण में पंथिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आंका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल पंथ को राजनीति में प्रधानता देते हैं, पंथ के आधार पर चुनावों में प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं, और सम्प्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनावों में धार्मिक मुद्दों जैसे गौ–वध को बन्द करवाने राम मन्दिर का निर्माण, आदि का प्रयत्न करते हैं। प्रो० मॉरिस जोन्स ने लिखा है, ''यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिखा जाए अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष पंथिक समुदाय के राजनीतिक दावों की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ पार्टियां ऐसी हैं जो स्पष्टरूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती हैं जैसे मुस्लिम लीग जो भारत के सिर्फ दक्षिण भारत में रह गयी है और जो मालाबार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल में ही शक्तिशाली है सिक्खों की अकाली पार्टी जो सिर्फ पंजाब में ही है, हिन्दू महासभा जो सिद्धान्तरूप में एक अखिल भारतीय पार्टी है, किन्तु मुख्यरूप से मध्य प्रदेश और उसके आस–पास इलाकों में शक्तिशाली है'' जनसंघ दल के बारे में मॉरिस जोन्स लिखते हैं, ''जब तक कट्टरता की मनोवृत्ति से पूर्ण आर० एस० एस० जिसमें हिन्दू सांस्कृतिक जोश और सैन्यवादी ट्रेनिंग दोनों का संयोग है जनसंघ की आड़ में जुटकर काम करता रहेगा, तब तक साम्प्रदायिकता इस पार्टी का एक महत्वपूर्ण पहलू बनी रहेगी।''

   यदि साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाए अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज के ही भीतर किसी सामाजिक–धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध के रूप में लिया जाए तो सभी पार्टियों में किसी न किसी स्तर पर और कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य मिलेगी, यहाँ तक कि कांग्रेस भी इससे मुक्त नहीं है। केरल में ईसाई समुदाय के साथ कांग्रेस का ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे संकुचित दृष्टि से भी साम्प्रदायिक कहा गया है। यहाँ तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर और कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिए हैं।

2. धर्म और निर्वाचनः भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में पंथ और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं। वोट के लिए मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ सांठ–गांठ की जाती है। मतदान के अवसर पर मत मांगने वाले और मतदान करने वालों के आचरण पर पंथिक तत्व छाए रहते हैं। मार्च 1977 और जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है कि पंथिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं? राजनीतिक नेता की भांति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिए और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिए प्रेरित किया। किसी संवाददाता ने लिखा है, ''सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मद्योक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगें। फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा? जिमोरम के चुनाव में जारी एक पर्चे में कांग्रेस (इ) ने कहा था कि वह ईसाई अधिकारों के लिए लड़ेगी। धर्मनिरपेक्षता का हलफ उठाने के बाद भी वी० पी० सिंह लोकसभा चुनावों से

पूर्व अब्दुल्ला बुखारी जैसे कट्टरवादियों से रिश्ते बनाते हैं तो स्पष्ट है कि राजनीतिक दलों की निगाहें कबीब 100 महत्त्वपूर्ण चुनाव क्षेत्रों में मुस्लिम सम्प्रदाय के 20 प्रतिशत वोट हथियाने के लिए लालायित हैं।

3. राजनीति में धार्मिक दबाव गुटः साम्प्रदायिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूहों की भूमिका अदा करने लगे हैं। ये पंथिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी–कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' पास कर दिया गया, किन्तु दूसरे सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। स्वतन्त्रता के बाद अनेक मुस्लिम संगठनों, जैसे जीमयत–उल उलेमा–ए–हिन्द, अमारते शरिया, जमायते इस्लामी, आदि ने कम से कम तीन बातों के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित कर 'दबाव गुटों' की भूमिका अदा की है। ये तीन बातें हैं–उर्दू को संविधानिक संरक्षण दिया जाए, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप स्थापित किया जाए और मुस्लिम पर्सनल लॉ के बारे में कोई तब्दीली न की जाए।

4. धर्म के आधार पर पृथक् राज्यों की मांगः कई बार परोक्षरूप से पंथ के आधार पर पृथक् राज्यों की मांग भी की जाती रही है। अकाली दल पंजाबी सूबे की मांग ऊपरी तौर से भाषायी आधार की मांग नजर आती हैं, किन्तु यथार्थ में यह पंथ के आधार पर ही पृथक् राज्य की मांग थी। 2 नवम्बर, 1949 को मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रान्त' की मांग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के हिन्दू 'संकीर्ण हृदय वाले सम्प्रदायी' हो गए हैं और 'सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गयी।' सन्त फतेहसिंह के अनुयायी सिक्ख 'होम लैण्ड' की मांग करने लगे। उनका कहना था कि 'उत्तर भारत में एक समाजवादी लोकतन्त्रीय सिक्ख होम लैण्ड' की स्थापना ही सिक्ख राजनीति का वास्तविक एवं एकमात्र लक्ष्य है। पुराने राज्य का विभाजन वस्तुतः पंथ के आधार पर ही हुआ था। इसी प्रकार नागालैण्ड के ईसाइयों की पृथक् राज्य की मांग का आधार भी पंथगत निष्कर्ष थीं।

5. मन्त्रिमण्डल, के निर्माण में पंथिक आधार पर प्रतिनिधित्वः केन्द्र और राज्यों में मन्त्रिमण्डल बनाते समय सदैव इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख सम्प्रदायों और पंथिक विश्वासों वाले व्यक्तियों को उनमें प्रतिनिधित्व मिल जाए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में अल्पसंख्यकों, जैसे मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

6. धर्म और राष्ट्रीय पंथ और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माने जाते हैं। धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप ही हमारे देश का विघटन हुआ था और उसी के कारण आज भी विघटनकारी तत्व सक्रिय हैं।

7. राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिकाः पंथ और साम्प्रदायिक समुदायों का भारतीय राजनीति में कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए संन्दर्भ प्रस्तुत करती है। केरल की राजनीति का ऊपरी प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है। केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रंग में रंगा हुआ नजर आए, किन्तु उसका अन्तरंग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटों के गठजोड़ से बनता है। राज्य–राजनीति में दो प्रकार के दबाव समूह पाए जाते हैं–साम्प्रदायिक और व्यावसायिक। साम्प्रदायिक दबाव समूहों में नया सर्विस सोसायटी, श्रीनारायण धर्म परिपालन युगम और अनेक ईसाई संगठन प्रमुख हैं। जमींदार, धनिक वर्ग, व्यापारी, आदि इन्हीं संगठनों से जुड़े हैं, अतः ये साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में पंथिक दबाव गुटों से अपना तालमेल बिठाकर चुनाव रणनीति तैयार करते हैं

पंथ और राजनीति की अन्तःक्रिया को समझने के लिए पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पंजाब की राजनीति सदा अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति के निर्वोचनों के इर्द–गिर्द घूमती रही है। अधिक दूर न जाकर पिछले एक दशक की राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण करें तो धर्म की राजनीतिक भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते हैं और अकाली दल पंजाब की राजनीति को। सिक्ख पंथ के सर्वोच्च धार्मिक नेताओं द्वारा अकाल तख्त से जारी किए गए 'फरमान ने अकाली दल के प्रधान के चुनाव रोक दिया। स्वर्ण मन्दिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में की थी। पंजाब की राजनीति में अकाल तख्त का स्वरूप एवं भूमिका एक समानान्तर सरकार की भांति है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नहीं होते। अनेक बार धार्मिक विवादों के साथ–साथ राजनीतिक विवादों के बारे में भी फैसले अकाल तख्त करता है।

2.4.7 साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान (Solution of Problem of Communalism)

राष्ट्र की एकता और उन्नति के लिए साम्प्रदायिकता को समाप्त करना अति आवश्यक है। 31 दिसम्बर, 1973 को प्रैस सम्मेलन में श्रीमती गांधी ने कुछ दिन पूर्व हुए साम्प्रदायिक दंगे–फसादों पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि इस प्रकार के दंगे–फसादों में किसी को लाभ नहीं होगा। 18 दिसम्बर, 1979 को प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने मुख्यमन्त्रियों और विपक्षी दलों के नेताओं के एक सम्मेलन में बोलते हुए राजनीतिक दलों से अपील की कि वे साम्प्रदायिकता के प्रश्न का दलगत उद्देश्यों के लिए लाभ उठाने का प्रयास न करें। उन्होंने कहा है कि राजनीतिक भावनाओं से ऊपर उठकर एक समान आचरण संहिता बनाई जाए जिसका हर कोई पालन करे। श्री देसाई ने कहा कि साम्प्रदायिकता का कैंसर राष्ट्र जीवन से निकाल फेंकना जरूरी है और इसके लिए यह उचित है कि सभी नता मिल कर उपाय करें। 25 जनवरी, 1993 को गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा ने कहा कि जब तक साम्प्रदायिकता की समस्या से हमें मुक्ति नहीं मिलती है तब तक एक राष्ट्र के रूप में हम अपनी समपूर्ण क्षमताओं का उपयोग नहीं कर पाएंगे। राष्ट्रपति ने साम्प्रदायिकता को समूल नष्ट करने की आवश्यकता से देशवासियों को अवगत करवाया। यह एक ऐसा काम है जो राजनीति से नितान्त ऊपर है। साम्प्रदायिकता एक ऐसी चुनौती है जिसका स्थायी हल आवश्यक है। साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जाते हैं:

1. शिक्षा द्वारा (By Educaation): साम्प्रदायिकता को दूर करने का सबसे अच्छा साधन शिक्षा का प्रसार है। जैसे–जैसे शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाएगी धर्म का प्रभाव भी कम हो जाएगा और साम्प्रदायिकता की बीमारी भी दूर हो जाएगी। सही शिक्षा से राष्ट्रीय भावना पैदा होती है।

2. प्रचार के द्वारा (By Propaganda): समाचार–पत्रों, रोडियो तथा टेलीविजन के द्वारा साम्प्रदायिकता के विरूद्ध प्रचार करके भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न की जा सकती है।

3. नागरिक अपने दायित्त्व पूरे करें (Citizens should fulfil their Responsibility): दंगों का जारी रहना यह भी दर्शाता है हमारा समाज सब कामों के लिए प्रशासन तथा राजनीतिक नेतृत्व पर अधिक भरोसा करके सामाजिक नेतृत्व के महत्त्व को भूल गया है। नागरिकों को अपने दायित्त्व के प्रति सचेत होना चाहिए और शान्ति स्थापना में प्रशासन की मदद करनी चाहिए। प्रशासन दंगों को दबा सकता है, नागरिकों की मदद के लिए गश्त की व्यवस्था भी कर सकता है, लेकिन सन्देह का वातावरण खत्म करना नागरिकों का दायित्त्व है।

4. साम्प्रदायिक दलों का अनत करके (By abolishing Communal Parties): सरकार को सभी एसे दलों को समाप्त कर देना चाहिए, जो साम्प्रदायिकता पर आधारित हों। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के मतानुसार चुनाव आयोग को साम्प्रदायिक पार्टियों को मान्यता नहीं देनी चाहिए। श्री मोरारजी देसाई के विचारनुसार किसी भी राष्ट्रीय दल को साम्प्रदायिक पार्टियों से गठजोड़ नहीं करना चाहिए और नही साम्प्रदायिक पार्टियों को चुनाव लड़ने की आज्ञा दी जानी चाहिए। सभी साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए। 10 दिसम्बर, 1992 को केन्द्र सरकार ने पांच संगठनों–राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, जमायते इस्लामी हिन्द तथा इस्लामिक सेवक संघ को साम्प्रदायिक करार देकर गतिविधि निवारक अधिनियम 1967 के तहत उन पर प्रतिबन्ध लगाया। न्यायाधीश पी० के० बाहरी न्यायाधीकरण ने 4 जून, 1993 को विश्व हिन्दू परिषद् पर लगे प्रतिबन्ध को वैध ठहराया लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और बजरंग दल पर लगे प्रतिबन्ध को रद्द कर दिया।

5. आपसी विवाह के द्वारा (By Inter-Religious Marriages): अन्तर्जातीय विवाह करके साम्प्रदायिकता को समाप्त किया जा सकता है।

6. धर्म और राजनीति को अलग करकेः साम्प्रदायिकता को रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि राजनीति को धर्म से अलग रखा जाए। 25 फरवरी, 1987 को संसद् में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर चर्चा के दौरान सदस्यों ने धर्म को राजनीति से अलग रखने पर जोर दिया। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने कई बार अपने भाषणों में धर्म को राजनीति से अलग करने पर जोर दिया था।

7. सुरक्षा बलों में सभी धर्मों का प्रतिनिधित्वः साम्प्रदायिक दंगों को रोकने में सुरक्षा का विशेष उत्तरदायित्व है। अतः साम्प्रदायिक दंगों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सुरक्षा बलों में सभी धर्मों व जातियों को जहां तक हो सके, समान प्रतिनिधित्व देना चाहिए।

8. सामाजिक तथा आर्थिक विकासः साम्प्रदायिक दंगों को कम करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय पिछड़े लोगों का सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना है। अधिकांश साम्प्रदायिक दंगों में गरीब और पिछड़े लोग ही सुम्मिलित होते हैं। अतः साम्प्रदायिक दंगों को कम करने के लिए लोगों का तेजी के साथ सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना अति आवश्यक है।

9. साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों का आयोजन (Anti-Communalism Conventions): साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों का आयोजन करना है। अब तक इस प्रकार के कई सम्मेलन किए जा चुके हैं – नई दिल्ली (1956), नई दिल्ली (1968), इलाहाबाद (1970), भोपाल (1972), नई दिल्ली (1972) आदि। सम्मेलनों में हर बार कुछ प्रस्ताव पास किए गए हैं। कुछ दलों को फासिस्ट कहा गया और कुछ पर साम्प्रदायिक घृणा फैलाने, दंगे, हिंसा और तोड़–फोड़ के आरोप लगाए हैं। इस प्रस्तावों में मांग की गई है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, शिव सेना, आनन्द मार्ग और जमायते–इस्लामी आदि संगठनों को गैर–कानूनी घोषित किया जाना चाहिए। 19 दिसम्बर, 1992 को देश में 11 राजनीतिक दलों और 30 लोक संगठनों ने देश भर में साम्प्रदायिकता के विरूद्ध संयुक्त अभियान चलाने के लिए एक राष्ट्रीय समिति का गठन किया।

10. दलगत राजनीतिः न्यायमूर्ति विद्यातिल ने सिफारिश की थी कि ''राजनीतिक दल अपने दलगत हितों को बढ़ाने के लिए पुलिस का इस्तेमाल न करें और पुलिस प्रशासन में हस्तक्षेप करने से बाज़ आएं।''

11. साम्प्रदायिक दंगों के लिए सरकार के विरुद्ध कार्यवाहीः 1968 में राष्ट्रीय एकता परिषद् की श्रीनगर बैठक में तत्कालीन उप–प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने कहा था कि जो फैसला किया गया, ''उसमें यह भी नीहित है कि जो सरकार दंगों को रोकनें मे विफल हो, वह हर्जाना दे और जिम्मेदार मन्त्री अपने पद से इस्तीफा दे दें।

हमें तो प्रसंग में समूची सरकार के पद त्याग पर विचार करना चाहिए।'' परन्तु यह फैसला और इसमें निहित सिद्धान्त आज तक 'किताबी ज्ञान' बना रहा, जिसको व्यवहार में लाने का साहस किसी राजनीतिज्ञ ने नहीं किया।

12. शान्ति रक्षा बलः 12 सितम्बर, 1980 को केन्द्रीय सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए शान्ति रक्षा बल की तीन बटालियनें गठित करने की स्वीकृति दे दी। शान्ति रक्षा बल में देश के विभिन्न भागों से मुख्यरूप से अल्पसंख्यक, हरिजन तथा आदिवासी समुदायों के सदस्य लिए जाएंगे। गृह मन्त्रालय के एक प्रवक्ता के अनुसार उनका दृष्टिकोण सम्भवतः राष्ट्रीय, धर्म–निरपेक्ष तथा जाति, धर्म और क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर होगा। सरकारी प्रवक्ता के अनुसार शान्ति रक्षा बल के जवानों का विशेषरूप से प्रशिक्षण होगा। उनको न केवल साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए तैयार किया जाएगा, बल्कि उन्हें यह भी सिखाया जाएगा कि ऐसे दंगों के दौरान निर्दोष पीड़ित व्यक्तियों की कैसे सहायता की जाए। साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा त्वरित कार्य बल (Rapid Action Force) की स्थापना की गई है जो तेजी से कार्यवाही करके साम्प्रदायिक दंगों से निपटता है।

13. गृह–मन्त्रालय का 10 सूत्री कार्यक्रमः जुलाई, 1981 में गृह–मन्त्रालय ने साम्प्रदायिक दंगों की रोकथाम के लिए राज्य सरकारों का एक 10 सूत्री कार्यक्रम भेजा। इनमें से एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि धार्मिक जुलूसों के मार्गों का पहले से निर्धारण कर दिया जाना चाहिए। एक सुझाव यह भी है कि पुलिस दल तथा गुप्तचर विभाग में अल्पसंख्यकों को पूरा प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए जिससे कि पुलिस की निष्पक्षता में उनका विश्वास पैदा हो। साम्प्रदायिक समाचार–पत्रों पर कड़ी नज़र रखने का सुझाव देते हुए केन्द्र ने इनके विरुद्ध प्रभावी कार्यवाही करने का भी सुझाव दिया है।

14. जून, 1989 में राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्य सचिवों के सम्मेलन ने देश की साम्प्रदायिक स्थिति पर कड़ी निगरानी रखने तथा साम्प्रदायिक घटनाओं को रोकने के लिए संगठित ढंग से एक–दूसरे राज्यों में गुप्तचर सूचनाओं का आदान–प्रदान करने का सुझाव दिया। सम्मेलन में इस बात पर आम सहमति व्यक्त की गई कि राज्यों में गुप्तचर एजेन्सियों की मशीनरी और गतिविधियों को तेज़ किया जाए।

15. विशेष आदलतेंः साम्प्रदायिक दंगे–फसादों के दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने में बहुत देरी हो जाती है क्योंकि मुकद्दमों का फैसला वर्षों तक नहीं होता। इसलिए साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित मुदद्दमों की सुनवाई और दोषी व्यक्तियों को कड़ी सज देने के लिए विशेष अदालतों की स्थापना की जानी चाहिए।

16. घृणा फैलाने वाले प्रचार पर रोकः अप्रैल, 1991 में चुनाव आयोग ने अचार संहिता लागू की, जिसके अनतर्गत चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए जाति या साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने वाले आह्वनों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। चुनाव प्रचार के लिए मन्दिर, मस्जिद या दूसरे धार्मिक स्थलों के मंच के रूप में प्रयुक्त करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया है।

17. ''राजनीतिक दलों और 30 लोक संगठनों ने देश भर में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संयुक्त अभियान चलाने के लिए 19 दिसम्बर, 1992 को एक राष्ट्रीय समिति की स्थापना की।''

18. दिसम्बर, 1992 में संसद् के दोनों सदनों ने प्रस्ताव पारित कर अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराए जाने की घटना की आलोचना की और देश की जनता से अपील की कि वह साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखें।

2.4.8 निष्कर्षः

साम्प्रदायिकता को समाप्त करना राष्ट्र की एकता के लिए अति आवश्यक है। सरकार को उन अधिकारियों को कड़ा दण्ड देना चाहिए जो धर्म के नाम पर पक्षपात करते हैं। सभी सरकारी नियुक्तियां योग्यता के आधार पर

की जानी चाहिए। हमारी सरकार को सरकारी नौकरियों के फार्म से धर्म का कालम हटाना चाहिए। यह बात बड़ी अजीब लगती है कि एक तरफ तो सरकार धर्म–निरपेक्षता का दावा करती है और दूसरी तरफ सरकारी नौकरियों के उम्मीदवारों से पूछा जाता है कि आपका धर्म क्या है। जो लोग साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा देते हैं, उनको भी सख्त सजाएं देनी चाहिए। परन्तु यह तभी हो सकता है जब सत्तारूढ़ दल स्वंय धर्म से बिल्कुल छुटकारा पा जाएं। अफसोस की बात है कांग्रेस ने एक तरफ तो साम्प्रदायिक दलों जैसे कि मुस्लिम लीग और शिव सेना की समय–समय पर आलोचना की और दूसरी तरफ अपने हित के लिए चुनावों में इनके साथ समझौता भी किया। मुसलमानों को भी यह समझ लेना चाहिए कि उनका भवष्यि हिन्दुओं के साथ है, न कि उनसे अलग रहने पर। Richard A. Schermerhorn ने ठीक ही कहा है, "The Muslims must realize that their future is round up with the future of secularism and they should support and strengthen the Hindus and others, who have launched a crusade against communalism. Without the minorities support this crusade may not succeed."

19 महीने के आन्तरिक आपात्काल में मुस्लिम और हिन्दुओं दोनों ने इकट्ठे यातानएं सही। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमायते–इस्लामी के सदस्य इकट्ठे जेलों में रहे, जेल में दोनों ने विचार–विमर्श खुलेरूप में किया और एक–दूसरे के विरूद्ध उनके दलों में घृणा की जो भावना थी, उसका अन्त किया। जब आपात्काल को समाप्त किया गया और लोकसभा तथा 10 राज्यों की विधानसभाओं और 2 संघीय क्षेत्रों के लिए चुनाव करवाए गए तब हिन्दुओं और मुसलमानों ने सम्प्रदाय की भावना से ऊपर उठकर मतदान किया। मुसलमानों के नेता जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल बुखारी (Abdul Bukhari) ने जनता पार्टी के समर्थन में जनता पार्टी के प्लेटफार्म से ही जनता पार्टी के नेताओं के साथ भाषण दिए। मार्च, 1977 से जुलाई, 1978 तक के काल में बिल्कुल दंगे–फसाद नहीं हुए।

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने अगस्त तथा सितम्बर, 1980 के दंगों के दौरान कई बार कहा कि हम साम्प्रदायिक एकता और शान्ति बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने जातिवाद, साम्प्रदायिकता तथा अन्धविश्वास को आधुनिक समाज में असंगत बताते हुए लोगों के मन से इन्हें दूर करने की जरूरत पर बल दिया था।

जून, 1986 में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने वाराणसी में गंगा की सफाई के दूसरे चरण का उद्घाटन करते हुए साम्प्रदायिक सद्भाव और राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए आहान किया। 28 जून, 1993 को अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमीति ने साम्प्रदायिक ताकतों को चुनाव से अलग रखने का प्रस्ताव पास किया।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी राजनीतिक दल मिलकर साम्प्रदायिक दंगों को सदैव के लिए समाप्त करने के उपाय ढूंढें और उन पर अमल करें। राष्ट्रहित की यही मांग है।

2.4.9 मुख्य शब्दावली

- धर्म शब्दावली
- मौलिकतावाद
- औपनिवेशिक
- राष्ट्रवाद
- सम्प्रदाय

2.4.10 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता से आप क्या समझते हैं? साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देने वाले तथ्यों का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय संदर्भ में साम्प्रदायिकता के विकास का उल्लेख कीजिए।
3. धर्म और राजनीति के मध्य संबंधों का वर्णन कीजिए।
4. साम्प्रदायिकता को रोकने/समाधान करने के उपायों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2.4.11 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.5 भारतीय राजनीति में भाषा

(Language in Indian Politics)

2.5.1 परिचयः

प्रो० मॉसिक जोन्स लिखते हैं, ''क्षेत्रवाद और भाषा के सवाल भारतीय राजनीति के इतने ज्वलन्त प्रश्न रहे हैं और भारत के हाल के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं के साथ इनका इतना गहरा सम्बन्ध रहा है कि अवसर ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रीय एकता की सम्पूर्ण समस्या है।''

भारत एक बहुभाषी देश है। सन् 1902 की एक गणना के अनुसार भारत में 179 भाषाएं एवं 544 स्थानीय भाषाएं (Dialeets) थीं और सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में 771 भाषाएं एवं स्थानीय भाषाएं विद्यमान थीं। 1961 और 1971 की जनगणनाओं में मातृभाषाओं के रूप में 152 भाषाओं की गणना की थी। यदि इन स्थानीय और क्षेत्र विशेष की भाषाओं को छोड़ भी दें तो भारत में प्रमुखरूप से प्रचलित भाषाओं की संख्या 18 है, जिनके अन्तर्गत देश की लगभग 90 प्रतिशत जनता आ जाती है। प्रारम्भ में प्रमुखरूप से प्रचलित भाषाओं की संख्या 18 है, जिनके नाम हैं–असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, संस्कृत एवं उर्दू। बाद में सिन्धी भाषा को भी संविधान में सम्मिलित कर लिया गया। अतः संख्या 15 हो गयी। अगस्त 1992 में हुए 71वें संविधान संशोधन के अनुसार कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली को भी सम्मिलित करलिया गया, अब यह संख्या 18 हो गयी है। भौगोलिक दृष्टि से भारत में पूर्वी तट की चार भाषाएं क्रमशः तमिल, तेलुगु, उड़िया और बंगला पश्चिमी तट की चार भाषाएं क्रमशः कन्नड़, मलयालम, मराठी एवं गुजराती, ठेट उत्तर में कशमीरी एवं उत्तर–पश्चिम में पंजाबी और मध्य क्षेत्र की भाषा हिन्दी है। हिन्दी से सम्बन्धित राज्य है हरियाणा, राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं केन्द्रशासित दिल्ली, चण्डीगढ़ आदि। उर्दू, संस्कृत तथा सिन्धी भाषा से सम्बन्धित कोई विशेष भाग नहीं है, परन्तु थोड़ी–बहुत मात्रा में इनका सर्वत्र प्रयोग होता है।

2.5.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में भाषा के महत्व को जानना।
- भाषा से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों को समझना।
- भाषा का राजनीति पर प्रभावों के बारे में जानना।

2.5.3 भारत की राजनैतिक व्यवस्था में भाषा की समस्या
(Problem of Language in Indian Political System)

भाषा किसी भी राज्य की राष्ट्रीय एकता के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। भारत एक बहुलवादी राज्य है जिसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। वर्तमान समय में भारत 179 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ है। इनमें से 18 भाषाओं को संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त है। भाषा की एकता से लोगों में विचारों की एकता पैदा होती है जो राष्ट्रीय एकता में सहायक होती है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र भाषा का होना बहुत आवश्यक है।

स्वतन्त्रता–प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय भाषा के विषय में विचार – राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार राष्ट्रीय आन्दोलन के समय ही किया जाने लगा था। उस समय में प्रचलित अंग्रेजी भाषा के विषय में राष्ट्रवादियों का विचार था कि इस भाषा से समाज दो वर्गों–शासक और शोषित–में बँट जाता है। महात्मा गाँधी ने 1981 में राष्ट्रीय भाषा और प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं को नहीं अपनाया जाएगा तब तक स्वराज्य के बारे में बातचीत करना व्यर्थ है। 1920 में पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी एक प्रस्ताव द्वारा इस बात का समर्थन किया कि प्रान्तों का गठन भाषाओं के आधार पर होना चाहिए। 1923 में कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया कि, जहाँ तक सम्भव

हो, अधिवेशन की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में की जाए। प्रान्तों की कांग्रेस समितियाँ पहले से ही अपने प्रान्त की भाषाओं में कार्य कर रही थी। 1928 की नेहरू रिपोर्ट में भी इसी बात का समथ्रन किया गया।

2.5.4 भाषा से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions Regarding Language)

भारत के संविधान के भाग 17 में अनुच्छेद 343 से लेकर 351 तक भाषा सम्बन्धी विषयों का उल्लेख किया गया है। इसका वर्णन निम्नलिखित हैः

1. अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राज्य भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने वाले अंकों कारूप अन्तर्राष्ट्रीय होगा।

2. संविधान के आरम्भ में 15 वर्ष की अवधि तक संघ में उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिसका प्रयोग पहले से हो रहा था।

3. अनुच्छेद 344 के अनुसार राष्ट्रपति इस संविधान के आरम्भ में 5 वर्ष की समाप्ति पर एक आयोग गठित करेगा जिसमें एक अध्यक्ष औश्र आठवीं अनुसूची में विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधत्व करने वाले अन्य सदस्य भी शामिल होंगे। इस आयोग का कर्त्तव्य होगा कि सरकारी उद्देश्यों के लिए हिन्दी भाषा का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाए तथा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध के लिए सुझाव दिया जाए।

4. संविधान के अनुच्छेद 345 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि राज्य का विधानमण्डल एक या एक से अधिक भाषाओं को राज्य के सरकारी कार्यों के लिए निश्चित कर सकता है। यदि राज्य का विधानमण्डल चाहे तो वह हिन्दी भाषा को भी अपना सकता है।

5. अनुच्छेद के 346 के अनुसार राज्य और केन्द्र में आपसी व्यवहार के लिए सरकारी भाषा वह होगी जिस भाषा को केन्द्र द्वारा मान्यता दी गई है परन्तु यदि दो या दो से अधिक राज्य इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि उनके प्रयोग की राज्य भाषा हिन्दी भाषा हो तो उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।

6. अनुच्छेद 347 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा भाग यह चाहता है कि उसकी बोली को भाषा के रूप में मान्यता दी जाए, तो राष्ट्रपति से इस प्रकार की मांग करने पर वह ऐसा आदेश दे सकता है।

7. संविधान के अनुच्छेद 348 के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि उच्चतम न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयो में सभी कार्यवाहियाँ अंग्रेजी भाषा में होगी।

8. अनुच्छेद 350 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिकायत दूर करवाने के लिए संघ या राज्य सरकार के अधिकारी को संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भी भाषा में प्रार्थना–पत्र देने का अधिकार होगा।

9. अनुच्छेद 350 (क) और (ख) के अनुसार अल्पसंख्यक वर्गों को अपने बच्चों को मातृ भाषा में शिक्षा दिलाने का अधिकार होगा। इसके अलावा भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा।

10. संविधान के अनुचछेद 351 के अनुसार संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार करे, उसका विकास करे, जिससे कि वह भारत की संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा या प्रयत्न किया गया है कि देश की राज्य भाषा हिन्दी बने। इसके साथ ही आठवीं अनुसूची मे लिखी गई सभी 18 भाषाओं का पर्याप्त विकास हो। इसके साथ ही अलपसंख्यक अपनी भाषा का विकास कर सकें इसकी भी उचित व्यवस्था की गई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज्य भाषा बन जाता था। परन्तु भाषा की राजनीति ने यह सम्भव नहीं होने दिया।

2.5.5 अल्पसंख्यकों के लिए भाषायी संवैधानिक व्यवस्थाएँ (Constitutional Provisions for Minorities Regarding Their Language)

भारत के सवंधिान निर्माता राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता के विषय में अत्यधिक चिन्ति थे। वे देश के बहुलवादी स्वरूप से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि भारत में भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि की विभिन्ताएँ हैं। इसी के साथ ही भारत में बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक समुदाय (Community)भी है। इस तथ्य को ध्यान में रेखकर कि विभिन्नताओं में एकता स्थापित हो तथा बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना न कर सकें, संविधान में अल्पसंख्यकों की संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी सुरक्षा की व्यवस्था की। संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों के लिए भाषा सम्बन्धी निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं:

संविधान के भाग तीन में मूलाधिकारों के रूप में अल्पसंख्यक वर्गों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार के रूप में निम्नलिखित सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं।

1. अनुच्छेद 29(1) के अनुसार, ''भारत के राज्य–क्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग की, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा।''

   अनुच्छेद 29(2) के अनुसार, ''राज्य द्वारा पोषित या राज्य–निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।''

2. अनुच्छेद 30(1) के अनुसार, ''धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनीरूचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

3. अनुच्छेद 30(2) के अनुसार, ''शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरूद्ध इस आधार पर विभेद नही करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।''

संविधान के भाग 17 के अध्याय 4 के अनुच्छेद 350(क) तथा 350(ख) द्वारा तो अल्पसंख्यकों को विशेष शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। ये सुविधाएँ निम्नलिखित हैं:

1. अनुच्छेद 350(क) के अनुसार प्रत्येक राज्य तथा उस राज्य का प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के चालकों को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर मातृ–भाषा में शिक्षा उपलब्ध करने का प्रयास करेगा। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए राष्ट्रपति आवश्यकतानुसार राज्य को निर्देश दे सकता है।

2. अनुच्छेद 350(ख) के अनुसार व्यवस्था की गई है कि भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष पदाधिकारी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा। उसका कर्त्तव्य होगा कि वह भाषायी अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित सभी विषयों की रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति के सम्मुख पेश करेगा। राष्ट्रपति उस रिपोर्ट को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा तथा वह रिपोर्ट सम्बन्धित राज्यों को भी भेजी जाएगी।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि संविधान द्वारा भाषायी अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा पर्याप्त सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं। इन सुरक्षाओं का उद्देश्य था कि अल्पसंख्यक भी अन्य वर्गों की तरह राष्ट्र की धरा में रहते हुए राष्ट्र की एकता को दृढ़ करेंगे। परन्तु उन्होंने भाषा के आधार पर अपनी भावानात्मक एकता तो मजबूत की, परन्तु राष्ट्रीय एकता की अवहेलना कर दी। इससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। भाषा

की भावनात्मक एकता में इतना उग्ररूप धारण किया है कि अन्य भाषाओं की अवहेलना ही नहीं, बल्कि उनका अपमान किया जाने लगा। यह प्रवृत्ति दोषपूर्ण है। राष्ट्र की सभी भाषायें हमारी हैं और उनका उचित आदर होना आवश्यक है। इस व्यवस्था का उत्तरदायित्व राजनेताओं पर है।

2.5.6 भाषा का भारतीय राजनीति पर प्रभाव (Effect of Language on the Politics of India)

भाषा ने भारतीय राजनीति को निम्नलिखित ढंगों से प्रभावित किया है:

1. राष्ट्रीय एकता को खतरा (Danger to National Integration): राष्ट्रीय एकता के लिए एक सामान्य भाषा का होना अति आवश्यक है। संविधान निर्माताओं ने यही बात सोच कर हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित किया था। परन्तु भाषा के विवाद ने राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को करारी चोट पहुंचाई है। दक्षिण के राज्यों और उत्तर के राज्यों में मुख्य विवाद का कारण भाषा है। हिन्दी राज्य हिन्दी के पक्ष में है जबकि दक्षिण के गैर हिन्दी भाषा राज्य हिन्दी विरोधी हैं।

2. भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन (State's Reorganisation on the basis of Language): संविधान के लागू होने के बाद शीघ्र ही राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन की मांग जोर पकड़ती गई और सरकार ने भारत के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए 1953 के आधार पर भारत को 14 राज्यों तथा 6 संघीय क्षेत्रों में विभाजित किया। परन्तु राज्य के 1956 के पुनर्गठन से यह समस्या समाप्त नहीं हुई बल्कि उसके बाद भी अनेक राज्यों का पुनर्गठन किया गया और आज भारत में 28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र हैं। आज भी अनेक क्षेत्रों में भाषा के आधार पर अलग राज्य बनाने की मांग उठाई जाती है। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ (Vidarabhs) गुजरात में सौराष्ट्र, उत्तरप्रदेश में बुंदेलखण्ड, जम्मू–कश्मीर में लद्दाख और जम्मू अलग राज्य की मांग कर रहे हैं। इससे भारत की एकता कमजोर पड़ती है।

3. क्षेत्रवाद की भावना का विकास (Development of the feeling of Regionalism): भाषा के आधार पर ही लोगों में क्षेत्रीयवाद की भावना की विकास हुआ है और विभिन्न भाषा बोलने वाले पृथक राज्य की मांग करते हैं। परन्तु यदि सभी पृथक भाषा बोलने वालों की मांग को स्वीकार कर लिया जाए तो भारत अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बंट जाएगा और भारत की एकता भी खतरे में पड़ सकती है।

4. सीमा विवाद (Regional Dispute): भाषा के कारण अनेक राज्यों में सीमा विवाद उत्पन्न हुए हैं और आज भी अनेक राज्यों के बीच यह विवाद चल रहे हैं। उदाहरणस्वरूप पंजाब और हरियाणा, महाराष्ट्र और कर्नाटक और केरल इत्यादि में सीमा विवाद विद्यमान हैं। पंजाब और हरियाणा के भाषायी क्षेत्रों के विवाद को हल करने के लिए कई आयोग स्थापित किए जा चुके हैं परन्तु अभी तक समस्या का समाधान नहीं हुआ है।21 जून, 1986 को केन्द्र ने सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश डी. ए. देसाई अध्यक्षता में न्यायिक समिति की नियुक्ति की ताकि वह पता लगा सके कि पंजाब के कौन से हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को चण्डीगढ़ के बदले दिए जाने चाहिए।

5. संकीर्ण देशभक्ति की भावना (Feeling of Linguistic Minorities): भाषा व्यक्ति संकीर्ण देशभक्ति की भावना का विकास करती है। लोग राष्ट्र को भूल कर अपने स्वार्थ हितों के चक्कर में फंस जाते हैं। भारत में रहने वाले भिन्न–भिन्न लोग अपनी प्रान्तीय भाषाओं के प्रति अधिक वफादार है और हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इससे ज्यादा शर्म की बात और क्या हो सकती है कि ऐसे लोग विदेशी भाषा अंग्रेजी पढ़ने के लिए हिन्दी का विरोध करते हैं।

6. भाषीय अल्पसंख्यकों की समस्या (Problem of Linguistic Minorities): भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से एक महत्वपूर्ण समस्या पैदा हो गई है और यह है भाषायी अल्पसंख्यक। चाहे राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया जाता है फिर भी प्रत्येक राज्य में अन्य भाषाओं के लोग भी रहते हैं। अल्पसंख्यकों को बहुमत भाषी बाहर के लोग समझते हैं फिर भी प्रत्येक राज्य में अन्य भाषाओं के लोग भी रहते हैं। अल्पसंख्यकों को बहुत भाषी बाहर के लोग समझते हैं और उनके साथ भेद भाव किया जाता है। उदाहरण के लिए 1966 में महाराष्ट्र में शिव सेना की स्थापना की गई जिसने नारा दिया, महाराष्ट्र मराठियों के लिये और दक्षिण भारत के विरूद्ध आन्दोलन किया ताकि वे महाराष्ट्र से चले जाएं।

7. आन्दोलन, हिंसा, व्रत आदि का प्रभाव (Effects of Movements, Violence, Fasts, etc.): भाषा के विवादों ने आन्दोलनों हिंसा इत्यादि को जन्म दिया है। भाषायी समूह के लोगों ने केन्द्र से अपनी मांगे मनवाने के लिए आन्दोलनों का सहारा लिया और कई नेताओं ने मरण व्रत भी रखे। कई बार इन हिंसक हिन्दी विरोधी आन्दोलनों में हजारों लोगों की मृत्यु हुई और करोड़ों की सम्पत्ति बर्बाद हुई। तमिलनाडु में कई बार हिन्दी विरोधी आन्दोलन हुई। दिसम्बर, 1986 में गोवा में कोंकणी को राज्य की सरकारी भाषा घोषित करने के लिए आन्दोलन हुए। 71 वें संशोधन द्वारा कोंकणी को आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कर लिया गया है।

8. सामाजिक तनाव (Social Tensions): भाषायी आन्दोलनों से सामाजिक तनाव की वृद्धि है। गोवा में कोंकणी और मराठी भाषा को लेकर दिसम्बर, 1986 में सामाजिक तनाव उत्पन्न हो गया। उत्तर भारत और दक्षिण भारत में भाषा को लेकर कई बार सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जाता है।

2.5.7 निष्कर्षः

उपरलिखित वर्णन ने स्पष्ट है कि भाषा ने भारतीय राजनीति को बहुत ही प्रभावित किया है और यह भारतीय एकता के रास्ते में एक बड़ी बाधा है। भाषा की समस्या आम चुनावों के दिनों में और भी उग्र हो जाती है, क्योंकि राजनीतिक दल विभिन्न भाषायी लोगों की भावनाओं को उत्तेजित करके अपना स्वार्थ पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। भारत से अंग्रेज गए तो अंग्रेजी को भी एक दिन जाना होगा। यदि दक्षिण भारत के पांच मुख्यमन्त्री हिन्दी को धीरे–धीरे लाने के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव देंते तो वह तर्कसंगत होता, ''परन्तु जिस तरह से उन्होंने हिन्दी का विरोध किया है और केन्द्र पर दोषारोपण किया है, वह नितान्त बेतुका और राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित है। इन लोगों ने अपनी राजनीतिक गद्दी को बरकरार रखने के लिए हिन्दी को एक शस्त्र के रूप में अपना रखा है और अपनी भोली–भाली जनता को हिन्दी के द्वारा उत्तर के साम्राज्यवाद का हौवा दिखा कर और उससे उसकी रक्षा करने वाले मसीहा का बाना पहन कर हमेशा बहकाने की चेष्टा की है। तमिलनाडु का तमिल के लिए आग्रह तो समझ आता है, पर अंग्रेजी के लिए आग्रह की क्या तुक है? हिन्दी के विकास मे जितना योग हिन्दी भाषियों का है, उससे कहीं अधिक गैर हिन्दी भाषियों का है। वास्तव में तमिलनाडु के हिन्दी विरोधी नेता भी वास्तविकता से बेखबर नहीं है। इसीलिए वे घर के बाहर मंच पर आकर हिन्दी का विरोध करते हैं। किन्तु घर के अन्दर अपने बच्चों को हिन्दी पढ़ाते हैं। इसलिए हिन्दी से वंचित रखकर अपने बच्चों का भविष्य वे नहीं बिगाड़ना चाहते, किन्तु जनता को हिन्दी के विरोध के लिए प्रलोभन दे कर केन्द्र की कमजोरी से राजनीतिक लाभ प्राप्त करने में भी वे पीछे नहीं रहना चाहते। आवश्यकता इस बात की है कि दुराग्रही हिन्दी–हन्ताओं को इसके विरूद्ध प्रचार करने का कोई अवसर न दिया जाए।

2.5.8 मुख्य शब्दावली

- बहुलवादी
- अखण्डता
- अल्पसंख्यक

- क्षेत्रीयवाद
- संस्कृति

2.5.9 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में भषा की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
2. अल्पसंख्यकों के लिए भाषायी संवैधानिक व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
3. भाषा का भारतीय राजनीति पर प्रभावों का वर्णन कीजिए।

2.5.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.6 क्षेत्रीयतावाद

(Regionalism)

2.6.1 परिचय

क्षेत्रीयवाद ने भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वर्तमान पंजाब की समस्या क्षेत्रीयवाद की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्या है जो राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा बन चुकी है। डॉ० इकबाल नारायण का कथन है कि ''भारतीय राजनीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व क्षेत्रीयवाद है जिसके कारण लोग भारतीय संघ की तुलना में उस क्षेत्र या राज्य विशेष को महत्त्व देते हैं जिसमें वे रहते हैं।''

क्षेत्रीयवाद की परिभाषा देना कठिन है। क्षेत्रीयवाद वह संकीण भावना है जिसमें किसी क्षेत्र अथवा राज्य के लोग आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या अन्य कारणों से, राष्ट्र की तुलना में अपने छोटे क्षेत्र से विशेष लगाव या भक्ति रखते हैं अथवा पृथक् अस्तित्व की माँग करते हैं। दूसरे शब्दों में, क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीय भावना का उल्टा है, जिसका उद्देश्य संकीर्ण क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है। स्वतंत्रता–प्राप्ति से लेकर आज तक यह समस्या भारतीय राजनीति को प्रभावित करती रही है। इस भावना के कारण नागरिक अपने को भारतीय न कहकर, बंगाली, मद्रासी, पंजाबी और बिहारी आदि कहते हैं। इस भावना से पृथकवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है जैसे कि पंजाब में खालिस्तान की माँग की जा रही है। क्षेत्रीयता की भावना से राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा पहुँची है।

2.6.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का विश्लेषणपरक अध्ययन करना।
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का भौगोलिक पक्ष को समझना।
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के मुख्य कारकों को जानना।

2.6.3 भारत में क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारण
(Causes for the Rise of Regionalism in India)

स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद भारत में क्षेत्रीयता का उदय क्यों हुआ? इस सम्बन्ध में ध्यान रखने वाली बात यह है कि भारत जैसे विशाल, बहुभाषा–भाषी एवं बहु–संस्कृतियों वाले देश में क्षेत्रीयता का उदय कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। क्षेत्रीयतावाद के बीज विदेशी हुकूमत के समय ही बो दिए गए थे परन्तु स्वाधीन होने के बाद यह समस्या उग्ररूप में देश के सामने आई। स्वतंत्र भारत में क्षेत्रीयतावाद की अनेक विकृतियाँ फलीं–फूलीं जिससे राजनैतिक और सामाजिक जीवन कई बाद अशान्त हुआ। क्षेत्रीयतावाद के जन्म या विकास के कारणों का अध्ययन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

1. **आर्थिक कारण**–क्षेत्रीयता को जन्म देने वाले कारणों में सबसे पहले आर्थिक कारणों को रखा जा सकता है। स्वाधीन होने के बाद जब देश में आर्थिक विकास का कार्यक्रम आरम्भ हुआ तो उसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्र तो बहुत अधिक विकसित हो गए जबकि कुछ अन्य क्षेत्र अत्यधिकरूप से पिछड़ गए। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जिस क्रान्ति की अपेक्षा की गइ थी, वह नहीं हुई। राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग व्यक्ति विशेष द्वारा, क्षेत्र विशेष के लिए हुआ। शिक्षा, रोजगार, उद्योगों के मामलों में विकास, विकास की दृष्टि से न होकर राजनैतिक दृष्टि से हुआ। इससे क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा हुआ। उदाहरण के लिए, 1966 से पहले हरियाणा के क्षेत्रों, जैसे हिसार, गुड़गाँव, महेन्द्रगढ़ आदि का विकास न हो सका। आन्ध्र प्रदेश में सत्ता प्रमुख रूप से आन्ध्र प्रदेश के नेताओं के पास रही जिस कारण तेलंगाना आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश, राजस्थान में पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ का क्षेत्र

विकसित न हो सका। हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय जो पहले केन्द–शासित प्रदेश थे, उनकी राज्य की माँग आर्थिक कारणों से थी। स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की अवहेलना क्षेत्रीयता की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण तत्त्व रही है।

2. **भाषा** – भारत में क्षेत्रीयता का सम्बन्ध भाषा के साथ अनिवार्यरूप से है। इसी भाषा को आधार मानकर अनेक क्षेत्रों के लोगों ने अपने लिए पूर्ण राज्यत्व की माँग की और जब यह माँग स्वीकार नहीं हुई तो आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 1955 में तेलगू भाषा के आधार पर आन्ध प्रदेश के लिए आन्दोलन चलाया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर जिन 14 राज्यों का गठन किया गया, उसका आधार भी भाषा ही था। इसी प्रकार महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और हरियाणा की स्थापना में भाषावाद ही आधार था।

3. **सांस्कृतिक कारण** – भाषा के साथ संस्कृति अनिवार्यरूप से जुड़ी हुई है। तमिलनाडु के लोगों को अपनी तमिल भाषा और तमिल संस्कृति अनिवार्यरूप से जुड़ी हुई है। तमिलनाडु के लोगों को अपनी तमिल भाषा और तमिल संस्कृति पर गर्व है। वे अपनी संस्कृति को शेष भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ मानते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने राज्य को भारतीय संघ से अलग करने की माँग की थी।

4. **धार्मिक कारण** – क्षेत्रीयवाद के विकास में धर्म की भी प्रधानता रही है। उदाहरण के लिए, पंजाब में खालिस्तान की माँग बहुत सीमा तक धर्म पर आधारित है।

5. **अन्तर्राज्जीय विवाद** – राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाने में सहायक हुए हैं। उदाहरणस्वरूप, चंडीगढ़ के विषय पर हरियाणा और पंजाब में तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई है। दोनों ही राज्यों की जनता ने अपने–अपने क्षेत्रों में आन्दोलन चलाए जिससे कि वातावरण काफी अशान्त हो गया है। नर्मदा नदी के जल–प्रयोग के कारण मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के मध्य काफी तनावपूर्ण स्थिति रही। भाखड़ा जल–विद्युत के प्रयोग के लिए पंजाब और हरियाणा तथा पंजाब और राजस्थान में संघर्ष चल रहा है। कहने का अर्थ यह है कि राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेखीयता की भावना को बढ़ाते हैं।

6. **राजनैतिक कारण** – क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारणों में राजनीतिज्ञों का भी मुख्य हाथ रहा है। वे सोचते हैं कि यदि अलग राज्य की स्थापना कर दी जाएगी तो सत्ता उनके हाथों में आ जाएगी। इसी उद्देश्य के कारण उत्तर प्रदेश को विभाजित करने की माँग समय–समय पर उठती रहती थी। इसी प्रकार 'विशाल हरियाणा' की माँग भी उठाई गई थी।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने के अनेक कारण हैं।

2.6.4 भारत में क्षेत्रीयतावाद

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् राजनिति में जो नए प्रश्न उभरे हैं, उनमें क्षेत्रीयतावाद (Regionalism) का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय एक देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागृत है। भारत की राजनीति को क्षेत्रीयतावाद ने भी बहुत अधिक प्रभावित किया है और यह भारत के लिए जटिल समस्या बनी रही है और आज भी विद्यमान है। आज यदि किसी व्यक्ति से पूछ जाए कि वह कौन है तो वह भारतीय कहने के सथान पर बंगाली, बिहारी, पंजाबी, हरियाणवी आदि कहना पसन्त करेगा। यद्यपि संविधानानुसार प्रत्येक नागरिक को भारत की ही नागरिकता दी गई है, तथापि लोगों में क्षेत्रीयता व प्रान्तीयता की भावनाएँ इतनी पाई जाती है कि वे अपने क्षेत्र या प्रान्त के हित के लिए राष्ट्र हिट को बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं। 1950 से लेकर आज तक क्षेत्रीयतावाद की समस्या भारत सरकार के घेरे हुए हैं और विभिन्न क्षेत्रों में आन्दोलन चलते हैं। इन आन्दोलनों को मुख्यतः पांच प्रकार की माँगों के आधार पर संगठित किया गया हैः

(क) भारतीय संघ से पृथक होने की माँग (Secession from the Indian Union)

(ख) पृथक् राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for Separate Statehood)

(ग) पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for full Statehood)

(घ) अन्तर्राज्जीय विवाद (Inter-state Disputes)

(ङ) राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन संघ से अलग होने के लिए किए जाते रहे हैं।

(क) भारतीय संघ से पृथक होने की माँग (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन संघ से अलग होने के लिए किए जाते रहे हैं।

(i) तमिलनाडु में आन्दोलनः संघ से अलग होने की आवाज़ सर्वप्रथम मद्रास राज्य के लोगों ने उठाई। 1960 में D.M.K तथा अन्य तमिल दलों ने इस माँग को पूरा करवाने के लिए व्यापक आन्दोलन संगठित किया। 1962 के चुनाव में D.M.K दल को मद्रास विधानसभा में पचास स्थान प्राप्त हुए, जबकि 1957 के चुनाव में इस दल को 15 स्थान प्राप्त हुए थे। D.M.K Party के नेता अन्नादुराई (Annadurai) ने संघ से अलग होने की माँग को दोहराया। स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू ने इस माँग को अनुचित बताया। मद्रास के वातावरण को देखते हुए संसद् ने 1963 में संविधान में 16वां संशोधन पास किया। इस संशोधन के अनुसार संसद को अधिकार दिया गया कि वह भारत की प्रभुसत्ता को ललकारने वाले व्यक्ति को सज़ा देने के लिए कानून बनाए। इस संशोधन के अनुसार संसद तथा अन्य राज्य विधानसभा के चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को संविधान के प्रति और राष्ट्र की प्रभुसत्ता व एकता को बनाए रखने के लिए साथ शपथ लेनी होगी। इस संशोधन के फलस्वरूप D.M.K ने भारत से अलग होने की माँग को छोड़ दिया। परन्तु 1971 में तमिलनाडु (मद्रास) के मुख्यमन्त्री करुणानिधि (Karunanidhi) ने कहा कि तमिलनाडु का भारत से अलग होना निश्चित एवं अनिवार्य है।

(ii) पंजाब आन्दोलनः मद्रास राज्य की तरह पंजाब में मास्टर तारा सिंह ने पांजब को लेकर एक अलग सिख राज्य बनाने की माँग रखी। 1950 से लेकर 1966 तक अकाली दल ने पंजाबी सूबा बनाने के लिए कई आन्दोलन चलाए। नवम्बर, 1966 को पंजाब का पुनर्गठन करके पंजाब और हरियाणा दो राज्यों की स्थापना की गई। 1971 में डॉ. जगजीत सिंह ने खालिस्तान की माँग को दोहराया जिसकी पंजाब के नेताओं ने कड़ी आलोचना की। 1973 में पास किए गए आनन्दपुर प्रस्ताव के आधार पर आकाली दल ने भारत के भीतर ऐसे सिख राज्य की स्थापना की माँग की जिसमें चार विषयों–प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा और यातायात व संचार साधनों को छोड़कर अन्य सभी विषय राज्य सरकार को सौंप देने चाहिएँ। अपनी इस माँग को पूरा करवाने के लिए अकाली दल के एक धड़े ने जत्थेदार जगदेव सिंह के नेतृत्व में आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन के अतिरिक्त 8 अगस्त, 1982 को एक अन्य आन्दोलन अमृतसर से अकाली दल ने आरम्भ किया। इस आन्दोलन में दमदमी टकसाल के मुखिया संत जरनैल सिंह भिंडरावाले और उनके समर्थक भी सम्मिलित थे। जून, 1984 में सरकार को विवश होकर आतंकवादियों को पकड़ने के लिए स्वर्ण मन्दिर परिसर में तथा अन्य स्थानों पर सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। जुलाई 1985 में शिरोमणि अकाली दल के प्रधान संत हरचंद सिंह लौंगोवाल और प्रधानमन्त्री राजीव गांधी में एक समझौता हुआ जिसको पंजाब समझौता कहा जाता है।

(iii) मिज़ो आन्दोलनः असम के मिज़ो हिल (Mizo Hill) ज़िले के लोगों ने भारत से अलग होने की माँग की ओर इस माँग को पूरा करवाने के लिए उन्होंने Mizo National Fron की स्थापना की। चीन के आक्रमण के समय M.N.F को अवैध घोषित कर दिया गया और मिज़ो हिल (Mizo Hill) को संघीय क्षेत्रीय (Union-Territory) बना दिया गया। इस संघीय क्षेत्रीय को मिज़ोरम (Mizoram) का नाम दिया गया और इसका उद्घाटन प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने 21 जनवरी, 1972 को किया। मिज़ो नैशनल फ्रन्ट ने लालडेंगा के नेतृत्व में स्वतन्त्र मिज़ोरम के लिए अपनी आतंकवादी गतिविधियां जारी रखीं। 1972 में लालडेंगा इंग्लैण्ड भाग गए और वहाँ से मिज़ो नैशनल फ्रन्ट को निर्देश देते रहे। 1976 और 1980 में आरम्भ हुई और 25 जून,1986 को केन्द्रीय सरकार और मिज़ो फ्रन्ट में समझौता हुआ और लालडेंगा को मुख्यमंत्री बनाया गया और 1987 में मिजोरम को पूर्ण राज्य बनाया गया।

(iv) नागालैण्ड आन्दोलनः मिज़ो लोगों की तरह असम के नागा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों ने स्वतंत्र नागरा राज्य की माँग की। उन्होंने नागा राज्य की माँग को मनवाने के लिए 'नागा नैशनल कौंसिल' (Naga National Council) की स्थापना की। नागों ने अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए हिंसक तथा अराजकता की कार्यवाही की, जिससे सेना को बुलाना पड़ा। 1962 में 13वें संशोधन द्वारा नागालैंड को भारतीय संघ का 16वां राज्य बनाया गया। इसके बाद भी नागालैंड में कई विद्रोही नागाओं ने अपना आन्दोलन जारी रखा।

(v) आज़ाद कश्मीर की माँगः जम्मू–कश्मीर में अलगाववाद की जड़ें बड़ी गहरी हैं। 1947 में शेख अब्दुल्ला जम्मू–कश्मीर के शासन बने और उन्होंने 1951 से स्वतंत्र कश्मीर का सपना देखना शुरू कर दिया। इसीलिए अगस्त, 1953 में शेख अब्दुल्ला को बंदी बनाया गया। कश्मीर में अलगाववाद का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370 है जिसने कश्मीर को विशेष दर्जा दे रखा है। 1987–88 से अलगाववादी गतिविधियाँ तेज हो गई। इन अलगाववादियों को पाकिस्तान का पूर्ण समर्थन प्राप्त है जिस कारण ये कश्मीर के विभिन्न स्थानों पर आतंकवादी गतिविधियाँ कररहे हैं। उन्हें पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षण, सहायता और प्रोत्साहन मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी तत्त्व विदेशी पर्यटकों का अपहरण करके उनकी हत्या कर देते हैं। उन अलगाववादियों से निपटने के लिए प्रशासन बड़े पैमाने पर कार्यवाही कर रहा है। उनकी मुख्य माँग कश्मीरियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देना और आज़ाद कश्मीर की कहै। इस माँग की पूर्ति के लिए ये अलगाववादी तत्त्व पाकिस्तान की उकसाहट के कारण खूनी संघर्ष का रास्ता अपनाए हुए हैं।

(ख) पृथक् राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for Separate Statehood): कई बार क्षेत्रीयता आन्दोलन अलग राज्य की स्थापना के लिए किया जाता रहा है। 1956 के राज्यों के पुनर्गठन से प्रत्येक राज्य सन्तुष्ट नहीं था। बम्बई राज्य के लोगों ने पहले अलग राज्य की माँग की, जिसके फलस्वरूप दो नए राज्यों महाराष्ट्र व गुजरात की स्थानपना हुई। पंजाब में अकाली दल ने पंजाबी सूबा की माँग की। 1966 में अकाली दल की माँग को स्वीकार किया गया और पंजाब दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया पंजाब व हरियाणा। पंजाब में पहाड़ी इलाके हिमाचल प्रदेश में मिला दिए गए।

(i) गोरखालैंड आन्दोलनः 1985 ई. में पश्चिम बंगाल दार्जिलिंग पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों ने सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखालैंड राज्य बनाए जाने की माँग की। गोरखा नैशनल लिबरेशन फ्रंट ने गोरखा राज्य के लिए व्यापक आन्दोलन चलाया और अन्त में अगस्त, 1988 में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दार्जिलिंग पर्वतीय गोरखा परिषद् की माँग को स्वीकार कर लिया गया। दार्जिलिंग गोरखा परिषद् के चुनाव दिसम्बर, 1988 में हुए जिसमें गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को 28 सीटें प्राप्त हुई।

(ii) बोडो आन्दोलनः 1987 में असम में बसे बोडो कबीले के लोगों ने 'बोडोलैंड' की माँग को लेकर – 'आल बोडो–स्टूडैंट्स यूनियन' (All Bodo Students Union) नेतृत्व में आन्दोलन शुरू किया। आल बोडो स्टूडैंट्स यूनियन ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तरी किनारे पर बसे बोडो कबीले के लोगों के लिए अलग राज्य की माँग कर रही है ताकि वे अपनी संस्कृति एवं भाषा की रक्षा कर सकें और अपना सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास कर सकें। 15 अगस्त, 1989 को अखिल बोडो छात्र संघ ने 'एक हजार घण्टे' के असम बन्द का आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन में बोडो और गैर–बोडो समुदायों में हिंसक घटनाएं हुईं। 28 अगस्त, 1989 को नई दिल्ली में त्रिपक्षीय वार्ता हुई और बोडो और बोडो आन्दोलनकारी बातचीत के लिए उचित वातावरण बनाने के उद्देश्य से अपना आन्दोलन स्थागित करने तथा हिंसक गतिविधियाँ रोकने पर सहमत हो गए। बोडोलैंड आन्दोलन, 20 फरवरी को आन्दोलन के नेताओं, केन्द्र और राज्य सरकार के बीच हुए एक समझौते के साथ ही समाप्त हो गया। समझौते के अनुसार असम राज्य में बोडो लोगों की आशाओं को पूरा करने और सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए एक 40 सदस्यी स्वायत्तशासी परिषद् बनाई जाएगी। इस परिषद् के 35 सदस्य निर्वाचित होंगे तथा 5 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत करेगा। 19 मई, 1993 को बोडोलैण्ड अन्तरिम परिषद् की स्थापना की गई। अन्तरिम परिषद् का गठन बोडो समझौते के पालन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

(iii) झारखण्ड आन्दोलनः झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के 21 जिलों को मिलाकर झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग कर रहा है। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा ने पिछले 4–5 वर्षों में कई बार जोरो से आन्दोलन चलाए। झारखण्ड नेताओं ने 15 सितम्बर, 1992 को झारखण्ड बन्द और 18 से 30 सितम्बर तक बिहार में आर्थिक नाकेबन्दी का आह्वान किया। 15 मार्च, 1993 को झारखण्ड बन्द किया गया और 16 मार्च से आर्थिक नाकेबन्दी कार्यक्रम शुरू कर किया गया। इस आर्थिक नाकेबन्दी को 20 अप्रैल को प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने समस्या के निदान हेतु द्विपक्षीय बैठक बुलाने के आश्वासन के बाद स्थगित कर दिया। वार्ता के कई दौर चले, पर झारखण्ड समस्या का कोई अल नहीं निकला। 17 मार्च, 1994 को अखिल झारखण्ड विद्यार्थी संघ व झारखण्ड पीपुल्स पार्टी के आह्वान पर 48 घंटे के बन्द के दौरान कई जगहों पर हिंसक वारदातें भी हुईं। 22 सितम्बर, 1994 को केन्द्र सरकार ने बिहार सरकार व झारखण्ड मुक्ति मोर्चे के साथ मिलकर एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत झारखण्ड के विकास के लिए एक स्वायत्तशासी विकास परिषद् की स्थापना की जाएगी। इस परिषद् में 100 सदस्य होंगे जिनमें से 90 सदस्य निर्वाचित और मनोनीत होंगे। परन्तु इन व्यवस्थाओं के बावजूद भी झारखण्ड आन्दोलन चलता रहा। अन्ततः केन्द्र सरकार ने झारखण्ड वालों की बात मानते हुए, नवम्बर 2000 में झारखण्ड नाम का एक राज्य बना दिया।

(iv) उत्तरांचल राज्य की माँगः पिछले कुछ वर्षों से उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल की माँग चल रही है। जनवरी, 1990 में भारतीय जनता पार्टी के महासचिव डॉ० मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में एक उत्तरांचल राज्य संघर्ष समिति का प्रतिनिधित्व गृहमंत्री से मिला और उसने उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों को मिला कर उत्तरांचल राज्य की स्थापना की माँग की। दिसम्बर, 1993 में उत्तरप्रदेश के मुखयमंत्री श्री मुलायम सिंह यादव ने भी उत्तरांचल राज्य की माँग का समर्थन किया। 1994 में उत्तराखंड आन्दोलन तीव्र गति से चला। 2 अक्टूबर, 1994 को जब उत्तराखंड के आन्दोलनकारी बसों में दिल्ली आ रहे थे तब मजफ्फरपुर नगर में पुलिस ने उन पर हर तरह के अत्याचार किए। मई, 1998 में भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने उत्तरांचल को राज्य बनाने की घोषणा की। केन्द्र सरकार ने उत्तरांचल वासियों की माँग भी मानते हुए नवम्बर, 2000 में उत्तरांचल नामक नया राज्य बना दिया।

(ग) पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for full Statehood): क्षेत्रीयता की समस्या का तीसरारूप पूर्ण राज्यत्व की माँग है। संविधान में 14 वां संशोधन 1962 में किया गया था, जिसके अनुसार हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, ़िपुरा पाण्डिचेरी तथा गोवा में विधानमण्डल की स्थापना की गई। हिमाचल प्रदेश के लोग बड़ी देर से हिमाचल को पूर्ण राज्य बनाने की माँग कर रहे थे, अतः 31 जुलाई, 1970 को हिमाचल को पूर्ण राज्य घोषित कर दिया गया। 1970 में दिल्ली की मेट्रोपोलिटन परिषद् (Metropolitan Council) ने दिल्ली को पूर्ण राज्य बनाए जाने की माँग की, परन्तु केन्द्रीय सरकार ने इस माँग को दृष्टिगत रखते हुए संविधान में 69वें संशोधन अधिनियम द्वारा दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र घोषित किया जिसमें एक विधानसभा की व्यवस्था की गई है। नवम्बर, 1993 में इसके चुनाव हुए और मदल लाल खुराना पहले मुख्यमंत्री बने। 1972 में मणिपुर तथा त्रिपुरा भी पूर्ण राज्य बना दिए गए। दिसम्बर, 1986 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने के लिए आन्दोलन शुरू हुआ और संसद् ने मई, 1987 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने का बिल जमा किया। गोवा भारत का 25वां राज्य है। 69वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संघीय क्षेत्र दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (National Capital Territory) बनाया गया है।

(घ) अन्तर्राज्जीय विवाद ग (Inter-state Disputes): क्षेत्रीयता की समस्या का एक अन्यरूप राज्यों के बीच पारस्परिक विवाद हैं। इस तरह का पहला विवाद मैसूर और महाराष्ट्र में हुआ। पंजाब और हरियाणा के बीच 1966 से विवाद चल रहा है। आज भी चण्डीगढ़ दोनों प्रान्तों में विवाद का मुख्य कारण बना हुआ है। असम–नागालैण्ड सीमा विवाद बहुत समय से चल रहा है और नवम्बर, 1987 में इस विवाद ने पुनः उग्ररूप धारण कर लिया और दोनों राज्यां`में अनेक खूनी मुठभेडें हो चुकी हैं। नदियों के पानी के इस्तेमाल के लिए राज्यों में विवाद होते रहते हैं। दरिया नर्मदा (Narmada) के पानी पर मध्य–प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में काफी समय तक विवाद चलता रहा और इसका हल मार्च, 1975 में हुआ। महाराष्ट्र, मैसूर और आन्ध्र प्रदेश में दरिया कृष्णा (River Krishna) के पानी के लिए काफी देर तक विवाद चलता रहा। पंजाब और हरियाणा में पानी का बंटवारा विवाद का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। कोवरी जल विवाद कर्नाटक और तमिलनाडु राज्यों में तनाव का मुख्य कारण है। 29 जलाई, 1991 को केन्द्रीय श्रम मन्त्री के. राममूर्ति ने कावेरी जल विवाद के मसले पर मन्त्रिमण्डल से त्याग–पत्र दे दिया। कावेरी जल विवाद का मामला अगस्त, 1991 में सर्वोच्च न्यायालय के पास ले जाया गया। 22 नवम्बर, 1991 के अपने फैसले के अनुसार उच्चतम न्यायालय ने कर्नाटक सरकार का अध्यादेश असंवैधानिक घोषित कर दिया। जुलाई, 1998 में अन्ना डी. एम. के. की नेता सुश्री जयललिता ने केन्द्र सरकार से आग्रह किया कि कावेरी जल विवाद को शीघ्रता से निपटाया जाए।

(ङ) राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए किए जाते हैं। असम आन्दोलन इस तरह का ही था। असम आन्दोलन 1979 से लेकर 1985 चल चला। यह आन्दोलन असम में विदेशियों की समस्या को लेकर चलाया गया, क्योंकि असमिया मूल के लोगों में यह आशंका घर कर चुकी थी कि वे अल्पसंख्यक बन जाएंगे क्योंकि बंगला देश से आकर लाखों लोग असम में बसते जा रहे थे। इस आन्दोलन को छात्रों ने आल असम स्टूडैण्ट्स यूनियन नामक संगठन के तहत चलाया। आन्दोलनकारियों ने माँग की कि चुनाव करवाने से पहले विदेशियों की समस्या को हल किया जाए और विदेशियों के नाम मतदाता सूची से निकाले जाएँ। केन्द्र सरकार ने आन्दोलनकारियों के साथ कई बार बातचीत की, पर विवाद को लटकाए रखा। फरवरी, 1993 में असम में चुनाव करवाने का प्रयास किया गया जिसमें बहुत बड़ी हिंसक वारदातें हुईं।

दिसम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव असम में नहीं हुए। राजीव गाँधी ने सत्ता में आने पर असम समस्या को हल करने के लिए प्रयास किए और अन्त में 15 अगस्त, 1985 को असम समझौता हुआ। दिसम्बर, 1985 में असम विधानसभा के चुनाव हुए। चुनाव लड़ने के लिए छात्रों और अन्य आन्दोलनकारियों ने असम गण परिषद् की स्थापना की। असम गण परिषद् को चुनाव में बहुमत प्राप्त हुआ और प्रफुल्ल कुमार महंत मुख्यमंत्री बने। असम आन्दोलन इन्हीं के नेतृत्व में चलाया गया था। असम गण परिषद् की सरकार समझौते को लागू करने के लिए वचनबद्ध रही। इस समझौते की मुख्य बातें हैं ''1966 से 1971 के बीच आए विदेशियों को पहचानना और उनके नाम मतदाता सूची से 10 वर्ष के लिए हटवाना तथा 1971 के बाद विदेशियों को बाहर निकालना।''

2.6.5 क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय
(Measures for Checking Regionalism)

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता हैः

1. केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप–सांस्कृतिक क्षेत्रों (Sub-cultural regions) का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।

2. सभी क्षेत्रों के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना न पनप सके।

3. भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूँढ़ लिया जाए। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाए।

4. हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क भाषा (Link language) के रूप में स्वीकार कर लें।

5. प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सकें।

6. केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधत्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।

7. जहाँ तब सम्भव व व्यावहारिक हो उप–सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।

8. भारतीय संघ के राज्यों की संकीर्ण मानसिकता को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सम्बन्धों को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उनमें असन्तोष न पैदा हो, वे मजबूत केन्द्र की आवश्यकता को समझें और केन्द्र को भी उनके सहयोग की अनिवार्यता की अनुभूति हो। इन दिनों केन्द्र–राज्य सम्बन्ध भी चर्चा का विषय बना हुआ है। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग का भी गठन किया गया था जिसने सन् 1987 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस आयोग की सिफारिशों के माध्यम से केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का पुनर्निर्धारण आर्थिक एवं अन्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक सन्तुलित नीति निर्धारित करने की ओर होना चाहिए।

2.6.6 निष्कर्षः

स्वतंत्रता के बाद भारतीय जन मानस में नीवी आकांक्षाएँ उठने लगी। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता भी बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और हितों की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे।

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदावार का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

2.6.7 मुख्य शब्दावली

- क्षेत्रीयतावाद
- टलगाववादी
- प्रादेशिकता
- परिषद्

2.6.8 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. क्षेत्रवाद की अवधारणा का अर्थ समझाते हुए, इसके उदय के कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. क्षेत्रीयतावाद की समस्याओं/चुनौतियों का वर्णन करते हुए, समाधानों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. भारत में क्षेत्रवाद के दुष्परिणामों पर अपनी समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

2.6.9 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.

- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.7 गरीबी उन्मूलन

(Poverty Alleviation)

2.7.1 परिचयः

मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही निर्धनता विद्यमान रही है। ज्यों–ज्यों समय गुजरता गया और जनसंख्या में भी वृद्धि होती गई, गरीबी बड़े पैमाने में दिखाई देने लगी। निर्धनता पर सबसे पहली बार ध्यान तब दिया गया, जब सामाजिक रूप में उसे व्यक्तिगत समस्या से भिन्न देखा गया। परन्तु इसने निराशावाद को भी जन्म दिया। उस समय जो आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ थी, तथा जो वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी ज्ञान उपलब्ध था उससे गरीबी की व्यापकता में कमी न हो सकी क्योंकि जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती गई। भाग्यवश, मानव की वैज्ञानिक ज्ञान की सतत् खोज ने इस निराशा को कम किया। उसने वस्तु और सेवाओं के उत्पादन तेजी से बढ़ाने के लिए प्राकृतिक तथा मानव संसाधनों के इस्तेमाल के नए और क्रान्तिकारी तरीके खोज निकाले। इस मूलभूत परिवर्तन के कारण ही निर्धनता को सामाजिक बुराई मानकर उन्मूलन करने के लिए सार्थक कार्य करने का सिलसिला आरम्भ हुआ।

गरीबी शब्द ग्रामीण भारत के लोगों के लिए अपरिचित नहीं है। देश में गरीबी एवं गरीब लोग अनादि काल से रह रहे हैं। जनसंख्या का एक बड़ा भाग नग्न गरीबी में जीवन यापन कर रहा है चाहे वह मन्द गति से होनी वाले आर्थिक विकास का परिणाम ही क्यों न हो। दाण्डेकर एवं रथ के अनुसार, ''भारत में गरीबी की समस्या निम्न राष्ट्रीय आय तथा इसके असमान वितरण की मन्द गति तथा विकास के छोटे लाभें का भी असमान वितरण है।'' भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में संघन गरीबी दशकों से एक कहावत रहा है। साढ़े पांच दशक की स्वतन्त्रता के योजनाबद्ध विकास का सर्वाधिक दुखद और चिन्तनीय पहलू यह है कि गरीबी भारत के लोगों के चेहरों पर हुक्मनाम की तरह है। ग्रामीण जनता उन अधिकांश सुविधाओं से वंचित है। जिन्हें जीवन के मापदण्डों के अनुसार न्यूनतम आवश्यक समझा जाता है। ग्रामीण लोग अपनी भाग्यवादी प्रवृत्ति के बोझ से दबे हुये होने के कारण जहां एक और गरीबी से मेलमिलाप करके आत्मसात हो जाते हैं, वहां दूसरी और यह महसूस करते हैं कि गरीबी से छुटकारा पाने के लिए कुछ नहीं किया जा सकता है क्योंकि शायद पूर्व जन्मों के कारण उसे गरीबी से पीड़ित होना पड़ रहा है। इन सब धाराणाओं से प्रतीत होता है कि भारतीयों ने गरीबी के साथ जीना सीख लिया है। गरीबी की समस्या की इस फबकती हुई विशालता से सम्भवतः इसके समाधान को भी नकारा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आर्थिक नियोजन न केवल आर्थिक विकास बढ़ाने के उपाय के रूप में अपनाया गया बल्कि गरीबी उन्मूलन भी इसका मुख्य लक्ष्य रहा, परन्तु गरीबी पर बराबर प्रहार करने के लिए कुछ अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है। पहला, गरीबी का पता लगाने के निश्चित मापदंड और दूसरा गरीबों का जीवन–स्तर उठाने के लिए ऐसी कार्यनीति जिसमें निश्चित कार्यक्रम है। इसके अतिरिक्त तीसरी आवश्यकता यह है कि गरीबी उन्मूलन कार्य में जो सफलताएँ मिली उनका अवधिक मूल्यांकन। इससे यह पता चल सकेगा कि जो कार्यनीति और कार्यक्रम अपनाए गए हैं, वे कितने प्रभावी सिद्ध हुए हैं।

राज्यवर ग्रामीण गरीबी सारणी 1 में दिया गया है।

सारिणी–1

(प्रतिशत् गरीब)

राज्य	1987–88	1999–2000
आन्ध्र प्रदेश	11.9	45.8
असम	13.4	53.4
बिहार	8.6	47.9
गुजरात	16.3	41.2
हरियाणा	3.7	41.2
कर्नाटक	10.0	32.0
केरल	8.4	65.0
मध्य प्रदेश	15.2	30.8
महाराष्ट्र	19.6	41.7
उड़ीसा	13.8	40.8
पंजाब	5.9	56.7
राजस्थान	6.4	21.0
तमिलनाडू	17.9	63.4
उत्तर प्रदेश	4.9	34.6
पश्चिमी बंगाल	11.0	53.4
भारत	11.3	42.4

2.7.2 उद्देश्य

- गरीबी उन्मूलन के विभिन्न लक्षणों को जान सकेंगे।
- गरीबी उन्मूलन की अवधारणा के विभिन्न पक्षों को समझ सकेगें।
- निर्धनता मापन के तरीकों का आलोचनात्मक समीक्षा कर सकेंगे।
- निर्धनता निवारण के वर्तमान कार्यक्रमों को समझकर उनकी समीक्षा कर सकेंगे।

2.7.3 निर्धनता की संकल्पनाएँ और मापदण्ड (तुलनात्मक) और पूर्ण निर्धनता

आम भाषा में गरीब और अमीर दो ऐसे शब्द हैं जिनका एक दूसरे से संबंध है। गरीब की परिभाषा करने के साथ–साथ अमीर की परिभाषा भी जरूरी है, क्योंकि हम गरीब और अमीहर की तुलना करते हैं। भारत में गरीबी के बारे में सबसे पहले दादाभाई नौरोजी ने 1871 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अन–ब्रिटिशरूल इन इण्डिया' में विचार किया जिसमें उन्होंने भारत में प्रति व्यक्ति आय का उल्लेख किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि ब्रिटेन की तुलना में भारत बहुत भिन्न है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की तुलना में भारत में यह स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है, (ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय 8,870 डालर, अमरीका की 17,480 डालर की तुलना में भारत की प्रति व्यक्ति आय

केवल 290 अमरीकी डालर हो) आज भी भारत 20 गरीब देशों में है। वस्तुतः इस तरह की तुलना में गरीबी को सापेक्ष दृष्टि से देखते हैं। या इसी प्रकार सापेक्ष दृष्टिकोण किसी देश के व्यक्तियों या समूह की पारस्परिक तुलना के लिए अपनाया जा सकता है। सापेक्ष निर्धनता हमेशा रहेगी क्योंकि कुछ देशों या व्यक्तियों की अन्य की तुलना करने पर गरीब हमेशा रहेंगे। इस दृष्टि से यह निर्धनता की अपेक्षा असमानता का सूचकांक अधिक बनता है, जिसकी परिभाषा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक समझे जाने वाले जीवन निर्वाह के न्यूनतम स्तर के संदर्भ में की जाती है। हाल ही के कुछ वर्षों से पूर्ण निर्धनता पर विजय पाने का लक्ष्य सामने रखा गया है।

पूर्ण निर्धनता से अभिप्राय है, जीवन–यापन का स्तर इतना नीचा है जिसमें मानव व्यक्तित्व–अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और मानव के स्वाभाविक विकास में बाधा आती है। पूर्ण निर्धनता की रेखा का अभिप्रायः निर्धनता की उस संकल्पना से है जिससें दो व्यक्तियों/वर्गों के बीच अन्तर किया जा सके जो गरीब हैं और जो गरीब नहीं हैं। सामान्यः गरीबी रेखा आमदनी के उस स्तर से ऑकी जाती हैं जो किसी व्यक्ति के लिए उपभोग के न्यूनतम स्तर की वस्तुएँ खरीदने के लिए पर्याप्त हो। न्यूनतम आवश्यकता का अर्थ है, उतनी उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि, जो व्यक्ति के सामान्य विकास के लिए पर्याप्त हो। जिन लोगों की आय गरीबी रेखा से नीचे हैं उन्हें गरीब कहते हैं और सभी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों में इसी वर्ग की गरीबी को दूर करना लक्ष्य माना गया है।

निर्धनता के आयाम

यद्यपि गरीबों की पहचान उनकी आमदनी के आधार पर की जाती है। परन्तु निर्धनता के कई पहलू हैं। शारीरिक दृष्टि से कुपोषण और रहन–सहन से अस्वस्थ्य इसके मापदण्ड हैं, जिनके कारण बीमारियाँ अधिक हैं और मृत्यु दर बढ़ जाती है तथा औसत आयु घट जाती है। अतः निर्धनता का अर्थ है, देश में शारीरिक क्षमता का निम्न स्तर। मानव क्षमता के संदर्भ में यह शिक्षा और कुशलता के अभाव का द्योतक है जिसके कारण न तो उत्पादन बढ़ पाता है और न ही अधिक मजदूरी के अल्प उत्पादकता से है। गरीबों के पास श्रम के भिन्न संसाधन भी सीमित होते हैं। इसलिए उनका स्वरोजगार भी अधिक उत्पादन नहीं होता। सामाजिक और सांस्कृतिक और सांस्कृतिक ढाँचे कमजोर होने के कारण निर्धन का शोषण होता है, सामाजिक दृष्टि से उसकी हैसियत निम्न होती है, उसके साथ भेदभाव का बर्ताव होता है और सांस्कृतिक क्षेत्र में उसकी उपेक्षा होती है।

गरीबों की पहचान करना एक बहुत ही अहम बात है। गरीबी उन्मूलन के सभी कार्यक्रमों का लक्ष्य उन लोगों की मदद करना है जो जरूरतमंद हैं। अतः गरीबों की पहचान की समस्या काफी महत्व रखती है। भारत में 'गरीबी रेखा' संकल्पना काफी महत्वपूर्ण हो गई है क्योंकि इसी के द्वारा सबसे अधिक तथा दूसरों के बीच भेद किया जाता है। जब निर्धनतम लोगों का पता लग जाए तब उनके उत्थान के लिए निश्चित कार्यक्रम अमल में लाए जा सकते हैं। इससे यह भी सुनिश्चित होता है कि दुर्लभ संसाधन समाज के सभी वर्गों में बराबर थोड़ा–थोड़ा न पहुँचे बल्कि उन्हें दिए जाए जिन्हें इनकी सख्त जरूरत हैं।

निर्धनता की जो बातें उभरी हैं या स्पष्ट हुई हैं, उन सबको मिलाकर गरीबों का पता लगाने के लिए कोई व्यावहार्य सूचकांक नहीं बनाया जा सकता। इसके लिए हमें दूसरी सबसे अधिक अच्छी प्रक्रिया, आय को आधार बनाना होगा। आय के आधार पर हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि कौन गरीब है और कौन गरीब नहीं है। इसी कारण योजनाकारों ने इस प्रक्रिया को अपनाया है। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी आवश्यक होगी कि गरीबी की कुछ बातें सामाजिक कारणों से भी प्रभावित होती हैं। निर्धनता कम करने में सरकारी नीति और पैसे की विशेष भूमिका होती है। सस्ती शिक्षा, चिकित्सा सुविधा, शुद्ध पेयजल की उपलब्धता का इसमें अहम स्थान है।

गरीबी रेखा की रचना

भारत में गरीबी रेखा की रचना में इन उपायों को रखा गया है। पहला उपाय है वस्तुनिष्ठ आधार पर एक आदमी के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं का निर्धारण। न्यूनतम आवश्यकताओं को हम दो समूहों में, अर्थात् खाद्य और

गैर–खाद्य श्रेणियों में बाँट सकते हैं। खाद्य संबधी न्यूनतम आवश्यकता पोषाहार आवश्यकता को ध्यान में रखकर निर्धारित की जा सकती है मानव शरीर को कार्बोहाईड्रड, वास, प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज जैसे पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। विभिन्न आयु वर्गों के स्त्री और पुरुषों को इन पोषक तत्वों को कितनी आवश्यकता है, इसका हिसाब भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् जैसी संस्थाओं ने लगाया है। खाने की जिन वस्तुओं से एक व्यक्ति की आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति होती है, वह एक व्यक्ति की खाद्य सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकता है। भारत में गरीबी रेखा की रचना केवल खाद्य वस्तुओं की खपत के आधार पर की जाती है। बाकी सभी आयामों को छोड़ दिया जाता है। स्पष्ट है कि हमारे समाज में गरीबी की रेखा निश्चित करने के लिए यह काफी नहीं है। परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भारत जैसे विशाल देश में यह सूत्र व्यावहार्यता के काफी निकट है क्योंकि हम अपनी आय का बड़ा हिस्सा खाने–पीने पर खर्च करते हैं। दूसरा उपाय है मौजूदा बाजार भावों पर न्यूनतम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की लागत का हिसाब लगाना। इसमें वे भाग लिए जाएँ जो उपभोक्ता को चुकाने पड़ते हैं ताकि हिसाब में ली गई लागत उतनपी हो, जितना पैसा खाद्य वस्तुओं को खरीदने में खर्च होता है।

तीसरे उपाय में प्रति व्यक्ति आय स्तर का हिसाब लगाया जाता है। यह आय दूसरे उपाय में जिस लागत का हिसाब लगाया गया है, उसके बरबार होती है। यह आय स्तर ही गरीबी रेखा है और यह सामान्यतः ''प्रति व्यक्ति प्रति मास'' के आधार पर अभिव्यक्त की जाती है। तीसरा उपाय पूरा करने के लिए विभिन्न आय वर्ग के लोगों के उपभोक्ता खर्च का ब्यौरा होना जरूरी है।

आप देखेंगे कि गरीबी रेखा का हिसाब खाद्य वस्तुएँ खरीदने के लिए जरूरी पैसे के आधार पर लगाया जाता है। उपभोग की अल्प आवश्यकताओं की मात्रा के आधार पर निर्धारण नहीं किया गया है। बल्कि खाद्य वस्तुओं से भिन्न इन उपभोक्ता वस्तुओं पर वर्तमान उपभोक्ता खर्च को न्यूनतम आवश्यकता माना जाता है। स्पष्ट है कि यह एक अनुमान है, इसे मापदण्ड नहीं माना जा सकता। खाद्य से भिन्न वस्तुओं का वस्तुवार न्यूनतम स्तर निर्धारण करना कठिन है।

यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि पोषक तत्वों की आवश्यकता आमतौर पर कैलोरियों की खपत के बराबर मानी जाती है। योजना आयोग इस कार्यविधि को ही अपनाता है और गरीबी रेखा की परिभाषा प्रति व्यक्ति मासिक आय के उस स्तर के रूप में करता है जो एक व्यक्ति की कैलोरियों की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त होती है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि जब औसतम भारतीय के खाने में पर्याप्त कैलोरियाँ होती हैं तो आम तौर पर प्रोटीन जैसे अन्य पोषक तत्व भी काफी मात्रा में होते हैं। अगर हम इस टिप्पणी को ध्यान में रखें तो कैलारियों के आधार पर गरीबी रेखा निर्धारित करने में योजना आयोग के तरीके में अधिक त्रुटि नहीं है।

2.7.4 ग्रामीण निर्धनता के निर्धारक–तत्व

रोजगार आमदनी का साधन है। रोजगार कम हो तो गरीबी बढ़ेगी। अतः गरीबी के निदान के लिए रोजगार के पर्याप्त अवसरों का होना बुनियादी आवश्यकता है। रोजगार कैसे पैदा होता है? रोजगार तब पैदा होता है जब मनुष्य उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिए अपना प्रयोग शारीरिक और बौद्धिक शक्ति का इस्तेमाल करता है। समय के साथ मनुष्य ने अपने कौशल का प्रयोग कर कृत्रिम संसाधनों का विकास किया है। ये संसाधन हैंः उपकरण, साज–समान, उपकरण–प्रणालियाँ आदि। इनसे वह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करता है। कृत्रिम संसाधनों के विकास से रोजगार के अवसर बढ़ते हैं और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से रोजगार अधिक उत्पादन बनता है। आय स्तर उठाने के लिए दोनों महत्वपूर्ण हैं। यदि पर्याप्त रोजगार उपलब्ध नहीं है तो विद्यमान सीमित अवसर अधिक लोगों में बँट जाएंगे। इससे हर व्यक्ति का हिस्सा कम हो जाएगा और आय भी कम होगी। इस सिलसिले को अल्प–रोजगार या गुप्त रोजगार कहते हैं। यदि रोजगार को अधिक उत्पानकारी बनाया जाता है तो नियोजित व्यक्ति की आय भी बढ़ेगी। इस प्रकार अगर सभी को उतना रोजगार देने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्राकृतिक और कृत्रिम स्रोत नहीं होंगे, जिससे सभी जीवन–यापन कर सकें और विकास हो सके, तो कुछ लोग गरीबी रेखा से नीचे चले जाऐंगे।

ग्रामीण क्षेत्रों में जमीन और पानी प्रमुख प्राकृतिक संसाधन है। यदि ये साधन इतनी मात्रा में उपलब्ध होते कि उनसे हर व्यक्ति को पर्याप्त आमदनी हो जाती तो कोई भी निर्धन नहीं होता। परन्तु समय के साथ–साथ जनसंख्या बढ़ती गई और प्राकृतिक संसाधन उस अनुपान में नहीं बढ़े। इस कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य ने कृत्रिमता का सहारा लिया। उसने प्राकृतिक संसाधनों का ज्यादा इस्तेमाल करने और उन्हें अधिक उत्पादन बनाने के लिए उर्वरकों, उन्नत बीजों आदि का विकास किया और नहरें तथा नलकूप (ट्यूबवैल) खुदवाए। परन्तु इन कृत्रिम संसाधनों का लाभ उठाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। जिनके पास पैसा नहीं है, वे कृत्रिम संसाधनों का इस्तेमाल नहीं कर सकते और उनके अधिक गरीब होने की संभावना रहती है। इसी तरह अगर हमारे पास जमीन और पानी नहीं है तो हमारे गरीब रहने की संभावना अधिक हो जाती है।

भारत में जनसंख्या बढ़ती जा रही है और उसकी तुलना में प्राकृतिक संसाधन लगातार कम होते जा रहे हैं। आज प्रति ग्रामीण परिवार औसतन एक हैक्टेयर से कुछ अधिक खेती योग्य है। उर्वरकों और अधिक उपज देने वाले बीजों के इसतेमाल के लिए सिचाई जरूरी हैं। परन्तु यहाँ पानी का वितरण समान नहीं है। ऐसी स्थिति में जमीन के समान वितरण से कुछ अल्पकालिक लाभ मिल सकते हैं। परन्तु आने वाले समय में जनसंख्या में वृद्धि के कारण उपलब्ध जमीन और जनसंख्या के बीच संतुलन नहीं रह पाएगा।

आम तौर पर लोग दो तरह से काम करते हैं। एक तो अपना काम है, जिसे हम स्व–रोजगार कहते हैं। दूसरा, दूसरे लोगों का काम करना है, जिसके बदले मजदूरी या वेतन मिलता है। जो अपना काम करते हैं, उनके पास या तो ज़मीन होती है जिसमें वह खेती करते हैं या पैसा होता है जिससे यह व्यापार करते हैं अथवा साज–समान बनाते हैं या फिर सेवाएं प्रदान करते हैं। जो मजदूरी कमाने के लिए खेती में काम करते हैं, उन्हें खेतिहर मजदूर कहते हैं। जिस परिवार के पास बहुत कम जमीन है, वह भी दूसरों की जमीन में मजदूरी पर कार्य कर अपनी आय बढ़ाता है। जो व्यापारी या कारीगर अपनी आमदनी बढ़ाना चाहते हैं, वे भी मजदूरी पर दूसरों का काम करते हैं। इस वर्ग की ग्रामीण के आय के भिन्न–भिन्न साधन हैं क्योंक उनको उनके मुख्य साधन से पर्याप्त आमदनी नहीं होती।

ग्रामीण इलाकों के सीमित संसाधनों पर जनसंख्या का दबाव कम करने का एक प्रमुख साधन यह हो सकता है कि देहात के लोग शहरों की तरफ आते रहें जिस हम प्रवजन कहते हैं। ग्रामीण इलाकों से कितना प्रवजन होता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि शहरों में उद्योगों, व्यापार और अन्य सेवाओं में कितने मजदूरों की जरूरत है। उनकी मांग किस हिसाब से बढ़ती है। भारत में देहातों से शहरों की और लगातार प्रवजन हो रहा है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ हद तक स्थिति सुधरी है। परन्तु ग्रामीण निर्धनता दूर नहीं हुई है। वस्तुतः इस समय जिस पैमाने पर लोग गाँवों से शहरों की और जा रहे हैं, उससे शहरी इलाकों में गरीबी बढ़ रही है। शहरीकरण की वर्तमान प्रक्रिया से काफी गंभीर समस्या पैदा हो रही है। जिन राज्यों का कृषि आधार मजबूत है, वहाँ कम लोग शहरों की ओर जाते हैं। पंजाब इसका एक उदाहरण है। कृषि के विकास और आधुनिकीकरण से शहरों की ओर पलायन रोका जा सकता है। इस प्रकार हम देखेंगे कि मजबूत और गतिशील कृषि विकास और आधुनिकीकरण से शहरों दोनों क्षेत्रों में गरीबी कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि गरीबी के कई कारण हैं। जनसंख्या की आवश्यकताओं के अनुसार प्राकृतिक और कृत्रिम संसाधनों की कमी और उनका असमान वितरण ही इसके बुनियादी कारण है। ग्रामीण इलाकों में, जहाँ जनसंख्या अधिक होती है, गरीबी का संबंध कृत्रिम संसाधनों के इस्तेमाल की आवश्यकता है। इन संसाधनों के सही उपयोग के लिए वहाँ टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल करने की जरूरत भी है। इन संसाधनों का इतनी कुशलता से उपयोग होना चाहिए कि इनका लाभ अपेक्षाकृत अधिक गरीब लोगों को मिले। इससे स्वरोजगार अधिक उत्पादक होगा तथा भूमिहीन मजदूरों को अधिक रोजगार मिलेगा और उनकी आमदनी बढ़ेगी। इसके साथ–साथ शहरी क्षेत्रों

में भी आर्थिक कार्यकलापों में तेजी से वृद्धि होनी चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या का दबाव कम हो। ये दो बातें ऐसी हैं जिनका ग्रामीण अर्थव्यवस्था के फैलाव पर अतिरिक्त प्रभाव पड़ेगा।

निर्धनता–उन्मूलन के लिए कार्य–नीति और कार्यक्रम

गरीबी हटाने के लिए सरकार ने दोहरी नीति अपनाई है। पहली कार्यनीति सामान्य विकास प्रक्रिया पर निर्भर रहने की है। इसमें कृत्रिम अर्थात मानव–निर्मित संसाधनों का इस्तेमाल और प्राकृतिक मानव संसाधनों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल शामिल है। दूसरी कार्य–नीति में गरीबों की सहायता के लिए विशेष कार्यक्रम अमल में लाना है। इससे संसाधनों के असमान वितरण में सुधार होगा। योजना के आरम्भिक चरणों में, अर्थात् पाँचवें और छठे दशक के दौरान विकास प्रक्रिया और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के माध्यम से संस्थाओं के निर्माण पर बल दिया गया ताकि विकास का लाभ गरीबों को मिल सके। योजनाओं का लक्ष्य प्रति व्यक्ति आय में 3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि रहा। आशा थी कि इससे गरीबों को भी लाभ होगा। परन्तु यह विकास–दर प्राप्त नहीं हुई। प्रति व्यक्ति आय में केवल 1.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि के क्षेत्र में और भी निराशा हुई। गरीबों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं रहा और जैसा हमने पहले कहा है, कृषि पर अधिक जोर दिया गया और संस्थाओं के निर्माण की अपेक्षा नई टैक्नोलॉली पर अधिक बल दिया गया। इससे कृषि–जगत में विकास का नया चरण आरम्भ हुआ, जिसे हम हरित–क्रान्ति कहते हैं।

क्षेत्र प्रधान कार्यक्रम

इस वर्ग में जनजाति उप–योजनाएँ और सूखा–प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम (डी.पी.ए.पी.) आते हैं। हमारी जनसंख्या का कुछ भाग दूर–दराज के आदिवासी इलाकों में रहता है। उन्हें देश की प्रगति का पूर्ण लाभ नहीं मिला और वे हमारी अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में शामिल नहीं हो पाए। हमारे समाज के सामाजिक तथा आर्थिकरूप से पिछड़े इन लोगों के लिए सरकार ने जन–जाति उप–योजनाएँ तैयार की हैं। इनके लिए पंचवर्षीय योजना की स्कीम के अन्तर्गत अलग से धन निर्धारित किया गया है। सूखा–प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिकरूप से पिछड़े उन क्षेत्रों में सूखे के प्रभाव को कम करना है, जहाँ बार–बार सूखा पड़ता है। इस कार्यक्रम का विशेष लक्ष्य छोटे और सीमान्त किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की मदद करना है। आदिवासी और सूखा–प्रवण क्षेत्रां`में बहुत बड़ी संख्या में गरीब लोग रहते हैं। इसलिए ये दो कार्यक्रम क्षेत्र प्रधान होते हुए भी अनिवार्यतः गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम ही है।

व्यक्ति प्रधान कार्यक्रम

पिछले दिनों कई व्यक्ति प्रधान लाभभोगी उन्मुख कार्यक्रम लागू किए गए। सबसे पुराना कार्यक्रम लघु किसान विकास एजेंसी था, जिसका उद्देश्य छोटे–छोटे किसानों का विकास करना था। दूसरा कार्यक्रम सीमान्त किसान और खेतिहर मजदूर विकास एजेन्सी था। काम के बदले अनाज कार्यक्रम सातवें दशक के आरम्भ किया गया था। इसका उद्देश्य सामुदायिक निर्माण कार्य करना था। जैसे गाँव में सड़क बनाना, लघु सिंचाई सुविधा प्रदान करना, स्कूल भवन बनाना। इससे वहाँ स्थाई परिसम्पत्तियाँ का निर्माण होता था और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार मिलता था। नौवें दशक में इस कार्यक्रम में फेर–बदल की गई और इसका नाम राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आई.ई.पी.) रखा गया। काम के बदले अनाज और एन.आर.ई.पी. दोनों का उद्देश्य आधी मजदूरी अनाज के रूप में देना था। ताकि अनाज के फालते स्टॉक का इस्तेमाल हो सके और गरीबों पर भावों के उतार–चढ़ाव का असर भी न पड़े। इन कार्यक्रमों में गरीब मजदूरों को सीधे अनाज लेने का हक दिया गया। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के अन्तर्गत नौवें दशक के प्रति वर्ष 30 से 40 करोड़ दिन का अतिरिक्त रोजगार पैदा किया गया।

1983 में एक दूसरा कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) लागू किया गया। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में हर भूमिहीन परिवार से कम से कम एक सदस्य को प्रति वर्ष 100 दिन के रोजगार की गारंटी देना था। यह कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया कि जब खेती के लिए मजदूरों की जरूरत न हो तो उस

समय खेतिहर मजदूरों की आय बढ़ाना भी था। फालतू श्रम है, उसका पूर्ण इस्तेमाल हो। इसका लक्ष्य इन मजदूरों की आय बढ़ाना भी था। 1989–90 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम को मिलाकर एक नया कार्यक्रम, जवाहर रोजगार योजना लागू किया गया है। यह सारे देश में लागू होगा और इसका 75 प्रतिशत खर्च केन्द्र सरकार वहन करेगी।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार (एन.आर.ई.पी.) और ग्रामीण भूमिहीन मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) का लक्ष्य देहाती गरीबों के उस वर्ग की मदद करना था जो मजदूरी करके अपनी आजीविका कमाते थे। परन्तु 1978 में लागू किया गया एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (स्व–नियोजक) जैसे सीमानत और छोटे किसान, ग्रामीण कारीगर की सहायता के लिए बनाया गया था। इसके अन्तर्गत उन्हें ऐसी उत्पादक परिसम्पत्ति का निर्माण करने के लिए कम ब्याज पर सहायता दी जाती है। जो स्व–रोजगार योजना के लिए जरूरी है। सातवीं योजना के दौरान आई.आर.पी. के टार्गेट ग्रप ने उन परिवारों को शामिल किया, जिनकी वार्षिक आय 6,400रूपये से कम थी और कार्यक्रम का लक्ष्य उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर उठाना था। छोटे किसानो को परिसम्पत्ति की पूंजीगत लागत में 25 प्रतिशत की छूट दी जाती थी और सीमान्त किसानों तथा भूमिहीनों को 33 प्रतिशत की। अनुसूचित जाति के परिवारों को 50 प्रतिशत छूट दी जाती है सातवीं योजना में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लिए 2,463 करोड रूपये की व्यवस्था की गई थी।

छठी योजना में पूर्व रोजगार पैदा करने वाली योजनाएँ

तीसरी योजना के दौरान रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम (आर.एम.पी.) प्रारंभ किया गया, जिसमें 1964–65 के अंत तक 1000 सामुदायिक विकास खंडों को लिया गया।

चौथी योजना के दौरान सरकार ने रोजगार पैदा करने के लिए एक विशेष योजना प्रारंभ की जिसे त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना (सी.एस.आइ.ई.) कहा गया। यह योजनेत्तर कार्यक्रम के रूप में शुरू की गई थी जिसमें शीघ्र और प्रत्यक्ष रोजगार करने के लिए 50 करोड़ रूप्ये का प्रावधान था। योजना के उद्देश्य निम्नलिखित थे–

प्रत्येक जिले में प्रति वर्ष औसतन 1000 लोगों के लिए रोजगार पैदा करन, तथा स्थानीय विकास योजनाओं के लिए टिकाऊ और उत्पादक परिसंपत्तियाँ उत्पन्न करना।

इस योजना में निर्माण कार्य शामिल थे, जिन्हें दो कार्य सत्रों में पूरा किया जा सकता था। 1972–74 में प्रत्येक वर्ष के लिए 50 करोड़ रूपये के परिव्यय लागत से त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना को चौथी पंचवर्षीय योजना में शामिल किया गया।

त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना के एक भाग के रूप में एक प्रायोगिक गहन ग्राम रोजगार परियोजना (पी.आई.आर.ई.पी.) भी शुरू की गई। इस परियोजना का लक्ष्य ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो काम करने को तैयार था, रोजगार प्रदान करने की योग्यता की दृष्टि से त्वरित रोजगार योजना के विस्तार के संबंध में आँकड़े एकत्रित करना। त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना तीन वर्ष की अवधि तक कार्यान्वित की गई और पाँचवीं योजना के पहले वर्ष तक चलती रही।

त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना के अनुभवों से पता चलता है कि संसाधन बड़ी परियोजनाओं तथा निर्माण कार्यों के बजाय बहुत सी छोटी परियोजनाओं तथा निर्माण कार्यों में थोड़ी मात्रा में लगे हैं। बहुत सा खर्च संचार पर ही हुआ जो इस योजना मे करना पड़ता था।

1977 में काम के बदले अनाज (FFW) नाम का एक नया कार्यक्रम शुरू हुआ। इसका लक्ष्य आधारित संरचना और स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्ति का विकास करते हुए ग्रामीण निर्धनों को रोजगार प्रदान करता था और अधिशेष से खाद्य सामग्री का उपयोग मजदूरी भुगतान के रूप में करना था। यह एक योजनात्तर स्कीम थी जो

राज्य सरकारों की निधियों को बढ़ाने के लिए बनाई गई थी जिसमें छोटे–छोटे सिंचाई कार्य, मृदा और जल संरक्षण, राज–मार्गों पर वृक्षारोपण, नालियों के निर्माण आदि जैसे ग्रामीण लोक निर्माण कार्यों का अनुरक्षरण किया जाना था।

2.7.5 गरीबी निवारण योजनाएँ

भारत में नियोजिक विकास का एक प्रमुख उद्देश्य गरीबी उन्मूलन है। नियोजन युग के आरम्भ से ही इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर कार्यक्रम तथा नीतियां बनाई गई और आवश्यकतानुसार समय–समय पर उनमें परिवर्तन किया गया। 1980 में तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने गाँवों में गरीबी पर सीधा प्रहार करने का उद्देश्य स्पष्टरूप से सामने रखा। फलस्वरूप योजना में ग्रामीण समस्या पर अधिक ध्यान दिया गया जिसे सातवीं योजना में और अधिक सम्बल प्रदान किया गया। इस संदर्भ में कुछ विशिष्ट गरीबी निवारण कार्यक्रमों की समीक्षा करना उचित होगा।

1. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमः यह संकल्पना 1976 में देश में चुने हुए बीस जिलों में प्रयोगात्मक आधार पर वास्तविक प्रयोग में लायी गयी थी। इसे 1978–79 और 2,300 चुने अुए खंडों में कुछ संशोधनों के साथ आरम्भ किया गया था, जिनमें से 2,000 लघु किसान विकास एजेंसियां, सूखा प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम (डी.पी.एस. पी.) और कमांड क्षेत्र विकास कार्यक्रम से जुड़े हुए थे। 1979–80 में 300 खंड शामिल किए गए जिससे 31 मार्च, 1980 तक देश में 2600 खंडों में कार्यक्रम शुरू हो सका। इसे 2 अक्टूबर, 1980 से देश में सभी खंडों में शुरू किया गया। इसके साथ–साथ लघु किसान विकास एजेंसियों को एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम में मिला दिया गया।

   इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेख से नीचे जीवन स्तर के लोगों को अभिच्हित करके उन्हें उत्पादक परिसम्पत्ति अथवा उपकरण खरीदने या स्वरोजगार के लिए उपयुक्त कौशल प्राप्त करने के लिए सहायता प्रदान की जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी आय में इतनी वृद्धि कर सकता है कि वह विकास प्रक्रिया द्वारा गरीबी रेखा से ऊपर उठ जाये। छठी योजना में शुरू किये गये इस कार्यक्रम का इस योजना के अन्त में मूल्यांकन करने से अनुक कमियों का पता चला। इन कमियों तथा राज्य सरकारों से प्राप्त प्रतिपोषक सूचना के आधार पर सातवीं योजना में अनुकूल परिवर्तन किये गये। गरीबी रेखा का आधार 6,400रू. था, लेकिन आई.डी.पी. कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता के लिए 5 व्यक्तियों की औसत वार्षिक आय का 4800रू. या कम होना आवश्यक था। सातवीं योजना में 2 करोड़ परिवारों को आई. आर.डी.पी. के अन्तर्गत सहायता देने का लक्ष्य रखा गया था जिनमें एक करोड़ तो नये परिवार थे तथा एक करोड़ ऐसे पुराने हितग्राही थे जो गरीबी की रेखा पार नहीं कर सके थे तथा जिन्हें दोबारा लेने की आवश्यकता थी।

   सातवीं योजना के दौरान इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 3316 करोड़ रू. की सहायता दी गई जो इसके 3000 करोड ़रू. के लक्ष्य से भी अधिक थी। यदि संस्थागत ऋणों को भी सम्मिलित कर लिया जाये तो कुल निवेश 8688 करोड़ रू. रहा। 2 करोड़ परिवारों के लक्ष्य की तुलना में इससे कुल 1.8 करोड़ जनसंख्या प्रभावित हुई, जो अब तक के संचयी लक्ष्य (1.6 करोड़ रू. परिवार) से अधिक था।

   समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के मूल्यांकन से पता चलता है कि यह कार्यक्रम गरीब परिवारों के लिये अतिरिक्त आय अर्जित करने की दृष्टि से सफल रहा, यद्यपि निर्धनता रेखा के पार करने वाले परिवारों की संख्या कम ही रही। इसका आंशिक कारण आरंभ में किये गये निवेश की मात्रा में अपेक्षाकृत कमी होना है। इस व्यवस्था में यह प्रत्याशा भी उचित प्रतीत नहीं होती कि बैंकों द्वारा हिताधिकारियों को दी जाने वाली

सहायता में वृद्धि की जाये, क्योंकि बैंकों द्वारा दिये गये गैर–चुकता ऋणों की मात्रा बहुत चिन्ताजनक स्थिति में पहुंच चुकी है।

2. स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण (ट्राइसैम) – अब यह कार्यक्रम स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण के उद्देश्यों, उसकी कार्यनीति, संगठनात्मक संरचना और संबंधों को देखेंगे।

स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिखण का उद्भव तथा उद्देश्यः 1979 में स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण (ट्राइसैम) देने के लिए एक पृथक राष्ट्रीय योजना स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण शुरू की गई। इस कार्यक्रम को शुरू करने का प्रबल कारण यह था कि ग्रामीण युवकों में बेरोजगारी और अल्पबेरोजगारी बहुत अधिक थी। प्रत्येक (विकास) खंड से 40 युवा–पुरुष और महिला, दोनों को चुना जाता था और उन्हें दक्षता विकास तथा उद्यमवृत्ति, दोनों में प्रशिक्षित किया जाना था ताकि वे स्वरोजगार शुरू कर सकें। स्वरोजगार के अवसर प्रदान करने के अलावा, ट्राइमैस का एक अन्य लक्ष्य भी था। ऐसी आशा की गई थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में आमदनी पैदा करने के कार्य सुलभ करने से युवकों का शहरी क्षेत्रों की ओर जाना कम हो जाएगा। इसके अलावा, स्थानीय संसाधनों से स्थानीय आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकेंगी और इस प्रकार ग्राम विकास को बढ़ावा मिलेगा।

स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम का उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे के परिवारों के ग्रामीण युवकों (18–35 वर्ष की आयु) को प्रशिक्षण और तकनीकी दक्षता प्रदान करना है ताकि वे कृषि, उद्योग, सेवाओं और व्यापार कार्यों में स्वरोजगार शुरूकर सकें (1982–83 से मजदूरी पर रोजगार भी जोड़ा गया)। प्रशिक्षण, केवल भौतिक दक्षता के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं बल्कि अभिवृत्ति में परिवर्तन, मानवीय संबंधों में प्रेरणा और दक्षता में वृद्धि के संदर्भ में भी देखा गया है। ट्राइसैम के संदर्भ में स्वरोजगार की परिभाषा पूर्णकालिक आधार पर लाभप्रद रोजगार के रूप में की गई है, जिसके फलस्वरूप युवक के परिवार की इतनी आमदनी हो सके ताकि वे गरीबी की रेखा पार कर सकें। जिस रोजगार की स्थिति में उत्पादन के साधन स्वयं के हों, चाहे वे किराये पर हों या पट्टे (लीज़) पर हों, उन्हें स्वरोजगार की स्थिति माना जाता है।

जब 1979 में ट्राइमैस शुरू किया गया, देश के लगभग 2,300 खंडों में एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम चालू था। फिर भी चूंकि ग्रामीण युवाओं की समस्या बहुत महत्वपूर्ण समझी गई थी, इसीलिए देश के सभी 5,000 खंडों में स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किया गया। जो पहले से ही एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम खंड थे, उनमें इस कार्यक्रम से धनराशि दी गई, जबकि गैर एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम खंडों को अलग से धनराशि दी गई। 1980 में, देश में सभी खंडों में एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम लागू किया गया और ट्राइसैम 'युवकों के लिए स्वरोजगार' एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम का घटक बन गया। वित्त वर्ष 1981–82 के शुरू से ट्राइसैम के लिए अलग धनराशि की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

3. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमः 1980 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम शुरू किया गया जिसका ध्येय ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में रोजगार के अवसरों को बढ़ाना था। इस प्रक्रिया में ग्रामीण क्षेत्रों में आय और उपभोग को पुनः वितरित किया जाना था। ग्रामीण उन्मूलन की दिशा में इसे एक महत्वपूर्ण कदम समझा गया। 1981 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम में ''काम के बदले अनाज'' ने स्थान ले लिया और उसे छठी योजना में शामिल कर लिया गया।

2.7.6 राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) के उद्देश्य

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के उद्देश्य निम्नलिखित थेः–

- ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार तथा अल्परोजगार वाले पुरुष और महिलाओं दानों के लिए अतिरिक्त लाभकारी रोजगार उत्पन्न करना।
- निर्धनों के लिए प्रत्यक्ष तथा सतत् लाभ के लिए उत्पादक सामुदायिक परिसम्पत्ति का निर्माण करना तथा ग्रामीण आर्थिक और सामाजिक आधारित संरचना को मजबूत करना, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण अर्थव्यवस्था में तत्काल वृद्धि तथा ग्रामीण निर्धनों की आय में लगातार वृद्धि हो, औरग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर में व्यापक सुधार,इस प्रकार राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.) के दो मुख्य उद्देश्य थे,
- ग्रामीण क्षेत्रों के बेराजगार तथा अल्परोजगार वाले लोगों के लिए प्रति वर्ष बड़ी मात्रा में श्रम दिवसों का सृजन, तथा ग्रामीण क्षेत्रों की आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं को मजबूत करने के लिए स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन,
- एन.आर.ई.पी. के अन्तर्गत सभी निर्माण कार्यों मे भूमिहीन मजदूरों को वरीयता दी गई। रोजगार प्रदान करने के लिए, बेरोजगार मजदूरों में से अनुसूचित जातियों और जनजातियों को वीरयता दी गई। इन. आर.ई.पी. के तहत निर्माण कार्य वर्ष में किसी भी समय किए जा सकते थे तथा ये सामुदायिक तथा व्यक्तिगत किसी भी प्रकार के हो सकते थे। लेकिन वरीयता उन निर्माण कार्यों को दी गई जिनमें गरीबों को प्रत्यक्ष लाभ मिलने की संभावना थी। ये या तो समूह द्वारा परिसम्पत्ति के विभिन्न उपयोगों के लिए या परिसम्पत्ति द्वारा सृजित सेवाओं की बिक्री के लिए लाभग्रहियों के स्वामित्व होते थे या उन्हें दिए जा सकते थे ताकि समूह के लिए आमदनी पैदा करनी सुनिश्चित हो सके।

अलग–अलग व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने वाले निर्माण कार्य केवल अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा बंधुआ मजदूरों और भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित होने के कारण कई अधिशेष भूमि के आबंटतियों के लिए तय किये गये थे। एक मुख्य प्रावधान एन.आर.ई.पी. के अधीन निर्माण कार्यों से सम्बन्धित था जिसमें ठेकेदारों को काम पर लगाने की अनुभूति नहीं थी। बिचौलियों या मध्यस्थ एजेंसियों के न होने से यह सुनिश्चित किया गया कि मजदूरी का पूरा–पूरा लाभ वास्तविक लाभग्रहियों को ही मिले।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.) का मूल्यांकन

एन.आर.ई.पी. का मिला–जुला इतिहास रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी को तथा अनाज के मूल्यों को स्थिर रखना, विभिन्न प्रकार की सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित करना, तथा ग्रामीण जनता के रहन–सहन का स्तर ऊँचा उठाना इसके मुख्य लाभ थे। इसके कुछ अन्य लाभ भी थे जैसे मजदूरी के कुछ भाग के रूप में अनाज देना और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में वृद्धि। इसके कुछ अन्य लाभ भी थे जैसे मजदूरी के कुछ भाग केंरूप में अनाज देना और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में वृद्धि। इसके अतिरिक्त इससे कर्मचारियों का न्यूनतम मजदूरी का भुगकान सुनिश्चित हो जाता था। इससे स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित करने में मदद मिली और इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र की आधारिक संरचनात्मक का आधार दृढ़ हुआ। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन (पी.ई.ओ.) ने 1981–82 और 1982–83 के एन.आर.आई.पी. का मूल्यांकन किया। इस अध्ययन में 9 राज्यों के 22 जिले, 44 खंड तथा 132 गांव शामिल थे अर्थात् जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्यों में भी कुछ मामलों के अध्ययन किए गए। अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित थेः

- एन.आर.ई.पी. के रोजगार सृजित करने के लक्ष्य लगातार प्राप्त किए,

- चुने हुए लाभ भागियों में 44% खेतिहर मजदूर, 8% छोटे किसान तथा 6% सीमांत किसान थे। शेष 18% दूसरे व्यवसायों में लगे लोग थे। लगभग आधे लोग अनुसूचित जातियों/जनजातियों के थे तथा 1/5 अन्य पिछड़े वर्गों के थे और 7% महिलाएँ थीं:
- लाभ भोगियों में से 87% को गाँव में ही नौकरी के अवसर मिलें,
- ग्रामीण परिवारों को कुल आसैत मजदूरी से आय का 23% आय एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत रोजगार प्राप्त होती थी,
- प्रति दश परिवारों में रोजगार के लाभ उस सामाजिक वर्ग को मिल रहे थे जिनके लिए यह कार्यक्रम बनाया गया था। यही नहीं, एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत मजदूरी राज्य प्रशासन द्वारा नियत न्यूनतम कृषि मजदूरी दर के अनुरूप थे,
- एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत सबसे सामान्य परियोजना ग्रामीण सड़कों का निर्माण था,

कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ने कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों की ओर ध्यान आकर्षित किया है वे निम्न है:

- राज्य स्तर पर समन्वय समितियों की बैठकें नहीं बुलाते थे,
- 1981–82 में जिन राज्यों का अध्ययन हुआ, उनमें केवल गुजरात, केरल, राजस्थान में ही परियोजना की सूची तैयार की गई थी,
- सांख्यिकीय आँकड़ों का आधार बहुत कमजोर था। जिला तथा राज्य स्तर पर उपलब्ध सांख्यिकीय आँकड़ों का योजन कार्यों के लिए उपयोग नहीं किया गया था,
- एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत निर्माण कार्यों को निर्धारण करने की उचित प्राथमिकता नहीं दी गई थी,
- कुछ राज्यों में अनाज बहुत घटिया किस्म के थे, कुछ मामलों में खुले बाजार में खाद्यान्नों की कीमतें कम थीं जिसके कारण कर्मचारी अनाज नहीं लेना चाहते थे,

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गांरटी कार्यक्रम

हमने एन.आर.ई.पी. की विवेचना विस्तार से की है। इसकी मुख्य विशेषता मजदूरी के कुछ भाग का भुगतान खाद्यान्न के रूप में करना था। आइए, अब हम रोजगार सृजित करने वाले एक अन्य कार्यक्रम के बारे में जानें, अर्थात् भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी. जो 1983 में शुरू किया गया था।)

आर.एल.ई.जी.पी के उद्देश्य

- रोजगार अवसरों से विस्तार तथा सुधार करना, विशेषरूप से ग्रामीण भूमिहीन मजदूरों को ध्यान में रखकर कि प्रत्येक भूमिहीन परिवार से कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक रोजगार की गारंटी दी जा सके,
- गरीब वर्ग के लिए प्रत्यक्ष तथा लगातार होने वाले लाभों के लिए तथा ग्रामीण आर्थिक और सामाजिक आधारिक संरचना को मजबूत करने के लिए उत्पादक और स्थायी परिसम्पत्तियाँ सृजित करना जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में तेजी से वृद्धि हो तथा रोजगार के अवसरों और निर्धनों के आमदनी के स्तरों में लगातार वृद्धि हो,
- ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर में स्वांगीण सुधार करना

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) का निष्पादन

आइए, अब हम आर.एल.ई.जी.पी. के कार्य–निष्पादन पर विचार करें। सबसे मुख्य बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि कार्यक्रम के गारंटी वाले भाग के मुख्यरूप से संसाधनों की कमी के कारण पूरे देश में लागू नहीं किया जा सका। जिन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इस कार्यक्रम पर बल दिया गए बंधुआ मजदूरों के लिए छोटी–छोटी आवास इकाइयाँ बनाना, सामाजिक और कृषि वानिकी कार्य, दस लाख कुएँ खुदवाने की योजना के अंतर्गत कुओं के निर्माण तथा सिंचाई, मिट्टी और जल संरक्षण निर्माण कार्य, प्राथमिक स्कूलों के निर्माण, गाँव के तालाब, गाँवों को जोड़ने वाली सड़कों का निर्माण जैसे कार्य शामिल थे।

इंदिरा आवास योजना (आर.ए.वाई.) इस कार्यक्रम का एक मुख्य भाग थी। इस लक्ष्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा मुक्त किए गए बंधुआ मजदूरों के लिए आवासी इकाइयाँ बनाना था। अब यह जवाहर रोजगार योजना के अंतर्गत आती है जिसके बारे में आप आगे खंड में पढ़ेंगे। इंदिरा आवास योजना 1985–86 में आरंभ की गई। सातवीं योजना में 10 लाख छोटी–छोटी आवास इकाइयाँ बनाई जानी थी। इस कार्यक्रम के लिए आबंटन वार्षिक आधार पर किए जाते हैं। 1985–86 में 100 करोड़ रूपये आबंटित किए गए। 1986–87 में यह आबंटन बढ़कर 124 करोड़ रूपये किए गए। 1988 तक 425 करोड़ रूपये की लागत से 4 लाख से अधिक आवासीय इकाइयों का निर्माण किया गया था।

सामाजिक वानिकी आर.एल.ई.पी. का एक दूसरा महत्वपूर्ण घटक है। 1985–86 में फंड की 20 करोड़ राशि इसी के लिए रखी गई थी। बाद के वर्षों में इसे बढ़ा कर 25 करोड़ कर दिया गया। 1988–89 में सामाजिक वानिकी के लिए 71 करोड़ रूपये मंजूर किए गये। 1987–88 में 88 करोड़ रूपयों के आबंटन के मुकाबले खर्च 100 करोड़ रूपये था।

आइए, अब हम आर.एल.ई.पी. के दूसरे घटक अर्थात् दस लाख कुएँ खुदवाने की योजना पर विचार करें। यह योजना 1988–89 में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के छोटे तथा सीमांत किसानों तथा मुक्त किए गए बंधुआ मजदूरों के लिए निःशुल्क सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने के लिए शुरू की गई थी। वर्ष के लिए 95,930 कुओं के निर्माण का लक्ष्य रखा गया जिसके लिए वर्ष भर में 154रूपयों का पूँजीकरण आवश्यक था।

1983 में जब आर.एल.ई.पी. आरंभ किया गया था तो केंद्र सरकार द्वारा 500 करोड़ रूपयों के परिव्यय का प्रावधान किया गया था। छठी योजना के दौरान केंद्रीय समिति ने 320 परियोजनाओं का अनुमोदन किया जिसकी लागत अनुमानतः 906.59 करोड़ रूपये थी। 1983 से 1985 तक के लिए रोजगार उत्पन्न करने का लक्ष्य 3600 लाख श्रम दिवस था। वास्तविकरूप में रोजगार के 2601.8 लाख श्रम दिवस ही उत्पन्न किए जा सके। छठी योजना के कार्यक्रम के प्रचालन को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि स्थानीय आवश्यकताओं तथा भूमिहीनों के लिए रोजगार के अवसर उत्पन्न करने की अपेक्षा विभागीय योजनाओं के आधार पर परिसम्पत्ति उत्पन्न करने पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति थी। सातवीं योजना में भूमिहीन मजदूरों को 80 से 100 दिन की सीमित गारंटी देने का सुझाव दिया गया। आर.एल.ई.पी. के लिए इस पंचवर्षीय योजना में 1,744 करोड़ रूपये के परिव्यय का प्रावधान किया गया। योजना में जैसा, 1984–85 में था 6.61 रूपये प्रतिदिन के अनुपात से मजदूरी की कल्पना की गई। मजदूरी व सामग्री मूल्य का अनुपात 50:50 रखकर इसमें आर.एल.ई.पी. में रोजगार के 10,130 लाख श्रम दिवस सृजित करने का विचार किया गया।

सातवीं योजना के पहले चार वर्षों में आर.एल.ई.पी. की प्रगति तालिका 2 में दी गई है।

तलिका 2: सातवीं योजना के दौरान आर.एल.ई.पी. के अंतर्गत सृजित परिसंपत्ति

सेक्टर	इकाई	1985–86	1986–87	1987–88	1988–89
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
इंदिरा आवास योजना					
समाजिक वानिकी	0.000	52	152	164	137
क) शामिल किया गया क्षेत्र	0.000	533	240	227	174
ख) वनरोपण वृक्ष	मिलियन	27.6	37.3	129.6	147
ग्राम स्वच्छता	0.000		62	66	26
स्कूलों की इमारतें	0.000	8	7	5	3
ग्रामीण सड़कें	.00 कि.मी.	120	152	133	6
मृदा संरक्षण	0.000 है.	75	85	68	10
लघु सिंचाई	.000 है.	19	87	23	14
दस लाख कुएँ	.000				12

जवाहर रोज़गार योजना

हमने रोजगार उत्पन्न करने वाले दो मुख्य कार्यक्रमों की चर्चा की। आइए, अब हम एक नए कार्यक्रम जवाहर रोज़गार योजना के बारे में चर्चा करें। आप सोच रहे होंगे कि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. जैसे कार्यक्रमों के होते हुए भी, यह नया कार्यक्रम क्यों शुरू किया गया। स्मरण रखें कि एन.आर.ई.पी. वास्तव में, कार्य के बदले भोजन कार्यक्रम का ही एक संशोधितरूप था। मजदूरी का एक भाग अनाज के रूप में देना, इसकी एक मुख्य विशेषता थी। जहाँ तक आर.एल.ई.जी.पी. का प्रश्न है, इसका मुख्य बल भूमिहीन मजदूरों को रोजगार प्रदान पर था। प्रत्येक ग्रामीण मजदूर परिवार के कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक रोजगार प्रदान करने की गारंटी देना इसका लक्ष्य था।

तथापित एक नए कार्यक्रम की योजना की आवश्यकता महसूस की गई जो पिछड़े क्षेत्रों में गहन रोजगार पर विशेषरूप से ध्यान दे। अतएव पिछड़े जिलों में गरीबी और बेरोजगारी कम करने पर जोर दिया गया।

जवाहर रोजगार योजना कार्यक्रम की पृष्ठभूमि

1989–90 के बजट भाषण में तत्कालीन वितमंत्री ने एक नई स्कीम की घोषणा की जिसका लक्ष्य चिरकालिक गरीबी तथा बेरोजगारी वाले पिछड़े जिलों में रोजगार प्रदान करना था। 120 जिलों में इसे लागू करने का निश्चय किया गया और इसके लिए बजट में 500 करोड़ रूपयों का प्रावधान रखा गया। नई स्कीम के अंतर्गत आबंटित की गई धन राशि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. के अंतर्गत आबंटित धन राशि से अलग थी। इस नई स्कीम का नाम 'जवाहर रोजगार योजना' रखा गया। ऐसा भी कहा गया कि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. दोनों को मिलाकर एक कार्यक्रम बनाया जाएगा तथा केन्द्र में इसके प्रायोजित स्कीम के रूप में कार्यान्वित किया

जाएगा। केंद्र तथा राज्यों के बीच 75:25 के अनुपात में फंडों की सांझेदारी होगी। बाद में पूरे मामले पर पुनः विचार किया गया। ऐसा निश्चय किया गया कि एन.आर.ई.पी. आर.एल.ई.जी.पी. तथा नई स्कीम जवाहर लाल नेहरू रोजगार योजना तीनों को मिलाकर जवाहर रोजगार योजना (जे.आर.आई.) के नाम से एक ही कार्यक्रम होगा। केंद्र और राज्य इस कार्यक्रम पर 80:20 के आधार पर खर्च करेंगे। इस कार्यक्रम के अंतर्गत केंद्र का हिस्सा जिलों में सीधे जिला ग्रामीण विकास एजंसियों को वितरित किया जाएगा। जिले को दिए गए हिस्से में से कम से कम 80:20 (केंद्र तथा राज्य दिया गया हिस्सा) ग्राम पंचायतों को दिया जाएगा।

आइए, अब हम इस कार्यक्रम पर कुछ विस्तार से विचार करें।

जवाहर रोजगार योजना की विशेषताएँ

इस कार्य का मूल उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार तथा अल्परोजगार लोगों के लिए अतिरिक्त लाभकर रोजगार उत्पन्न करना है। गौण उद्देश्य है, सामुदायिक उत्पादक परिसम्पत्तियाँ सृजित करना, जो गरीबों को लाभ पहुँचा सके तथा इस प्रकार ग्रामीण आधारित संरचना मजबूत हो सकेगी। इसके परिणामस्वरूप, ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक सुधार होता दिखाई दिया है। दूसारा गौण उद्देश्य है ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर पर सर्वांगीण सुधार। इस कार्यक्रम का लक्ष्य समूह वे लोग थे जो गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे। इसके अतिरिक्त गरीबों में से भी अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का वरीयता दी जाती है। इसके अतिरिक्त, यह भी सुनिश्चित करना जरूरी है कि कम से कम 30%लाभ भोगी महिलाएँ हों। वे सभी कार्य जिनसे स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित होती है, उस कार्यक्रम में शामिल किए जा सकते हैं। उन कार्यों को वरीयता दी जानी चाहिए जिससे गरीबों को लाभ पहुँचे तथा जो परिसम्पत्ति के रूप में गरीबों को दिए जा सें या उनके स्वामित्व में किए जा सकें। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के अंतर्गत उन कार्यों को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो आधारिक संरचना केरूप में जरूरी है। उन कार्यों के लिए कुछ विशष्टियाँ नियत की गई है जिनसे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को लाभ पहुँचाता है, सामाजिक वानिकी के निर्माण कार्यों, इंदिरा आवास योजना के अधीन आवासों का निर्माण भी इसमें शामिल थे जो आर.एल.ई.जी.पी. का एक भाग है और जो जवाहर रोजगार योजना में भी शामिल था। इसके अतिरिक्त दस लाख कुएँ खोदने की स्कीम जो 1988–99 में शुरू की गई थी, अभी भी जारी रखा जा रही है। सामाजिक वालिकी के लिए गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी की भी अपेक्षा की जाती है।

जवाहर रोजगार योजना के अंतर्गत मजदूरी का कुछ भाग नकद तथा कुछ भाग अनाज के रूप में अदा किया जा सकता है। इसके अलावा, अनाज के वितरण की दर 1.5 किलोग्राम प्रति श्रम दिवस से अधिक नहीं होनी चाहिए। मजदूरी जहाँ तक संभव हो, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अनुसार दिया जाना चाहिए। एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. मे जिन विशिष्टियों का उल्लेखनीय किया गया है, वहीं जवाहर रोजगार योजना पर भी लागू होती है। अनाज की इमादादी दर वही है जो एन.आर.ई.पी. के अधीन है। इसके अतिरिक्त जवाहर रोजगार योजना में ठेकेदारों को शामिल करने की अनुमति नहीं है।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास

(डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए.)

पिछली इकाई में अपने एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम जो मुख्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है के बारे में पढ़ा है। जैसी हमने उस इकाई में चर्चा की, पहले कुछ वर्षों के बाद हमारे नियोकों ने महसूस किया कि महिलाएं उतना लाभ नहीं पा रही है, जितनी कि आशा की गई थी। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना आवश्यक समझा गया। इसके तर्क का आधार यह था कि व्यक्तियों को यदि न्यूनतम बुनियादी, पोषाहार मिलता है तो वे और अधिक बेहतर ढंग से काम कर सकते हैं। परन्तु वे आधारिक पोषाहार तभी ले सकते हैं जब उनकी निश्चित न्यूनतम आमदनी हो। मूलतः ग्रामीण परिसम्पतियों को सुलभ बनाकर आमदनी पैदा

की जा सकती है। इसके अलावा, महिलाएँ बेहतर कार्यकुशलता और प्रशिक्षण का उपयोग करेंगी तथा अपने कार्यों से बेहतर लाभ प्राप्त कर सकेंगी।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के उद्देश्य तथा कार्यनीति

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं को उत्पादनकारी आमदनी पैदा करने वाली परिसम्पत्तियाँ और आत्म–सम्मान प्रदान करना तथा उनकी कार्यकुशलता बढ़ाना है। यह प्रभावकारी संगठनात्मक सहायता ढाँचा प्रदान करने का प्रयत्न करता है ताकि महिलाएँ समान के उत्पादन और सेवाओं में अधिक प्रभावी ढंग से सहायता प्राप्त कर सके। ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम का लक्ष्य समूह भी वैसा ही है।, जैसा कि एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम का होता है अर्थात् व परिवार जिनकी वार्षिक आय, 4,800 रूपये से कम हो। फिर भी, एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम से इसमें बुनियादी अंतर यह है कि डी.डब्ल्यु.सी.आर.ए. के अधीन सहायता अलग–अलग प्रत्येक परिवार को नही दी जाती है, बल्कि समूह को दी जाती है। डी.डब्ल्यु.सी. आर.ए. स्कीम में समूह बनाने की सकल्पना की गई है। प्रत्येक समूह में 15 से 20 महिलाएँ होती हैं तथा यह आशा की जाती है कि महिलाएँ एक साथ कार्य करेंगी जो उनके लिए सामूहिक तौर पर लाभदायक होगा। समूह के लिए उपलब्ध वित्तीय सहायता निम्न प्रकार हैः

क) पुराने अनुदान के रूप में 15,000 रूपये, जो भारत सरकार, राज्य सरकार और यूनिसेफ द्वारा बराबर–बराबर दिया जाता है, जिनका उपयोग निम्न प्रकार किया जा सकता हैः

- कच्चा माल प्राप्त करने और विपणन कार्यों के लिए कार्यशील पूंजी।
- एक वर्ष तक समूह संगठनकर्ताओं का मानदेय जो 50 प्रति मास से अधिक नहीं होता है।
- आमदनी पैदा करने वाले कार्यों के लिए आधरिक सहायता।
- शिशु देखभाल सुविधाएँ।

मूल्यांकनः

सातवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के लिए 48.05 करोड़ रूपये का परित्याग था। इसमें से 20.30 करोड़ रूपये केन्द्र का हिस्सा था। यूनीसेफ का हिस्सा 27.75 करोड़ रूपये था। 1982 से, जब से ग्रामीण क्षेत्रों मे महिला और बाल विकास कार्यक्रम शुरू किया गया, दिसम्बर, 1988 तक लगभग गरीबी की रेखा से नीचे की 0.38 मिलियन महिलाओं का आमदनी पैदा करने वाले कार्य शुरू करने में सहायता की गई। उसी अवधि में महिलाओं के लगभग 22,000 समूह बनाए गए हैं।

तालिका 3: ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास के अधीन महिला समूह

वर्ष	स्मूहों की संख्या	सम्मिलित महिलाओं के लिए	
		लक्ष्य	उपलब्धियाँ
1983–84	1,035	536	8,785
1984–85	5,000	2,772	43,285
1985–86	5,000	6,038	1,00,966
1986–87	7,500	5,545	96,132
1987–88	7,500	4,959	82,265
1988–89	7,500	5,968	98,936
1989–90	7,500	5,551	90,294

स्रोतः ग्रामीण विकास विभाग, भारत सरकार

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम में कुछ बुनियादी कमियों और समस्याएँ है जिससे कार्यकरण में कठनाइयाँ पेश आती हैं। ये हैंः प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों की भर्ती, आधारिक संरचना सुविधाओं और ऋण का अभाव, परियोजनाओं के चनय में समस्याएँ, समहों की भूमिका के बारे में स्पष्ट निर्देशों का अभाव और समूहों के सदस्यों को प्रोत्साहित एवं प्रेरणा की कमी।

स्वनियोजित महिलायें और अनौपचारिक क्षेत्र में महिलाओं पर राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट (1988) में उल्लेख किया गया है कि पश्चिम बंगाल जैसे कुछ राज्यों में डी.डब्ल्यु.सी.आर.ए. अच्छी कोटि की वस्तुओं का उत्पादन करने में पर्याप्त सफल रहा है। पंजाब में महिला आर्थिक विकास निगम को डी.डब्ल्यु.सी.आर.ए. से जोड़ा गया है और इसलिए वह सरकारी संविदाओं के माध्यम से उत्पादों के विपणन में सफल रहा है। फिर भी, अभी कुछ समस्याएँ विद्यमान है।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास (डी.डब्ल्यु.सी.आर.ए.)

पिछली इकाई में आपने एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम जो मुख्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है के बारे में पढ़ा है। जैसी हमने उस इकाई में चर्चा की, पहले कुछ वर्षों के बाद हमारे नियोजकों ने महसूस किया कि महिलाएँ उतना लाभ नहीं पा रही हैं, जितनी कि आशा की गई थी। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना आवश्यक समझा गया। इसके तर्क का आधार यह था कि व्यक्तियों को यदि न्यूनतम बुनियादी, पोषाहार नहीं हुई है–सम्पूर्ण प्रशिक्षण में प्रबंधकीय दक्षकता को महत्वपूर्ण अंग नहीं बनाया गया है। इसके अलावा, गरीबों में सबसे गरीब महिलाओं को अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं। आमतौर पर गरीब महिलाओं में साधारणतया कम गरीब महिलाएँ हैं जिन्होंने समूह बनाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के अधीन एक प्रावधान यह भी है कि डी.डब्ल्यु.सी.आर.ए. के सदस्य एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन ऋण आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि आपने पिछली इकाई में पढ़ा है कि सकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन लाभार्थियों की इकाई परिवार है। यहाँ महिलाओं को कतिपय समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यद्यपि काफी महिलाएँ परिवार की मुखिया होती हैं, खास तौर पर जहाँ पुरूष शहरों में प्रवास करते हैं, ऐसी परिस्थिति में उन्हें ऋण लेने में कठिनाई होती है।

सुनिश्चित रोजगार योजना

अक्टूबर 1993 और 257 जिलों के 1752 खण्डों के ग्रामीण क्षेत्रों में सुनिश्चित रोजगार योजना कार्यान्वित की गई जहां पुनर्गठित सार्वजनिक वितरण योजना चल रही है। इस योजना का उद्देश्य उन ग्रामीण गरीब लोगों, जिन्हें रोजगार की नितान्त आवश्यकता है और जो रोजगार की तलाश मेंम हैं, की अकुशल स्वरूप के शारीरिक श्रम हेतु 100 दिनों का सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराना 100 दिनों के रोजगार का आश्वासन 18 वर्ष से अधिक और 69 वर्ष से कम आयु के उन पुरूषों तथा महिलाओं का दिया जाता है जो आमतौर पर सुनिश्चित रोजगार योजना के तहत शामिल किये गये खण्डों के गांवों में निवास करते हैं। एक परिवार में अधिकतम दो बालिक व्यक्ति इस योजना में रोजगार पा सकेंगे।

उद्देश्य

सुनिश्चित रोजगार योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के उन सक्षम तथा सतर्थ शरीर वाले सभी बालिग लोगों को जो काम करने के इच्छुक हैं। और जिन्हें काम की जरूरत है लेकिन उन्हें कहीं काम नहीं मिल पा रहा है, को संबंधित जिलों के लिए राज्य सरकार द्वारा निर्धारित गैर–कृषि मौसम के दौरान सामान्य योजना/गैर योजना वाले कार्यों पर अथवा फार्म या अन्य संबंधित रोजगार उपलब्ध कराना है। इस योजना का गौण–उद्देश्य लोगों के लिए सतत रोजगार तथा विकास हेतु आर्थिक आधारभूत ढांचे तथा सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन करना है।

प्राथमिकताएं

सुनिश्चित रोजगार योजना के तहत निम्नलिखित स्वरूप के कार्यों को प्राथमिकता दिये जाने का प्रावधान हैः

(क) जन संभर वाटर शैड विकास के तहत जन संरक्षण, भूमि सुरक्षा, हरियाली संरक्षण, वन–रोपण, कृषि–वानिकी, वन–चरागाह आदि के लिए तैयार की गई अभिक्रिया योजनाओं के आधार पर चुने गए कार्य।

(ख) लघु–सिंचाई तालाबो, परिस्त्रवण टैंकों, ग्रामीण तालाबों तथा नहरों से संबंधित कार्य।

(ग) गांवों को सड़कों से जोड़ने हेतु जिलों के लिए तैयार किए गए मास्टर प्लान के आधार पर चुने गये सम्पर्क मार्ग के कार्य।

(घ) जवाहर रोजगार योजना के तहत कार्यान्वित किये जा रहे आपरेशन लोक बोर्ड कार्यक्रम के पैटर्न पर प्राथमिक स्कूलों में भवन।

(ङ) आंगनवाड़ियों के लिए भवन।

मुख्य विशेषतायें

इस योजना की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैंः

(क) इस योजना के अंतर्गत रोजगार के इच्छुक सभी मजदूरों को अपनी–अपनी पंचायत में अपना पंजीकरण करवाना होगा। काम के लिए पंजीकृत सभी लोगों को एक परिवार पत्र दिया जाएगा जिसमें परिवार के सदस्यों का और उन्हें इस वर्ष उन्हें दिये गये रोजगार का विवरण दर्ज होगा।

(ख) यह योजना पंचायतों द्वारा जिला, प्रखण्ड और ग्राम स्तर पर कलेक्टर/उपायुक्त की देख–रेख, दिशा–निर्देशन और नियंत्रण में चलायी जाएगी।

(ग) इस योजना के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक विकास प्रखण्ड के कलेक्टर/उपायुक्त के निर्देशन में परियोजनाओं की एक सूची तैयार की गई। सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराने की इन परियोजनाओं में भूमि एवंज न संरक्षण कार्य, बागवानी, वनरोपण, रेशम उद्योग जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं को शामिल किया गया।

प्रधानमन्त्री की रोजगार योजना

यह योजना 2 अक्टूबर, 1993 को प्रारम्भ की गई इसका उद्देश्य शिक्षित बेरोजगार युवाओं को उद्योग सेवा और व्यापार के क्षेत्रों में अपना उद्योग शुरू करने के लिए अवसर प्रदान करना था। इस योजना को 1993–94 से शहरी क्षेत्रों में और 1994–95 से पूरे देश में लागू किया गया। इस योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत मामलों में एक लाखरूपये तक का ऋण उपलब्ध कराने का प्रावधान है। इस ऋण की मात्रा उद्योग की किस्म पर निर्भर करेगी। आय वाले परिवारों के 18 और 55 वर्ष के बीच की उम्र के युवा सहायता पाने के पात्र हैं 1998–99 में इस योजना के लिए 110 करोड़ रूपये निर्धारित किये गए थे।

जवाहर ग्राम समृद्धि योजना

यह योजना जवाहर रोजगार योजना का पुनर्गठित एवं विस्तृतरूप है। यह योजना 1 अप्रैल 1999 को शुरू की गई। यह ग्रामीण गरीबों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने और उनकी सहायता के लिए रोजगार उपलब्ध कराने के लिए चलाई गई है। यह योजना सीधे ग्राम पंचायत स्तर पर लागू होती है। ग्राम पंचायत की प्रत्यक्षरूप से वार्षिक कार्य योजना ग्राम सभा की अनुमति को तैयार करती है और लागू करती है। इसमें 22.5 प्रतिशत धन अनुसूतिच जाति व जन जातियों के लिए व्यक्तिगतरूप से मुनाफे के लिए प्रावधान किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत 15 प्रतिशत पैसा वस्तुओं की देख–रेख के लिए खर्च किया जाता है। इसके तहत ग्राम पंचायत बिना किसी

अनुमति से 50000रूपये तक खर्च कर सकती है और 50000 रूपये से अधिक के कार्य के लिए तकनीकि सहयोगियों की अनुमति लेनी पड़ती है।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना

ग्रामीण क्षेत्र में गरीबों के स्वरोजगार के लिए ग्रामीण विाकस मन्त्रालय द्वारा गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास के लिए अप्रैल 1999 को स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना नामक कार्यक्रम चलाया गया, जिसके अन्दर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण कार्यक्रम, ग्रामीण मिस्त्रीयों के लिए नवीन औजार किटों का वितरण गंगा कल्याण योजना तथा दस लाख कुओं की योजना आदि को मिलाया गया। यह कार्यक्रम केन्द्र सरकार द्वारा संचालित है, जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के द्वारा धन आबंटन की प्रतिशत 75.25 है यह योजना पंचायत समिति के माध्यम से जिला ग्रामीण विकास एजेंसी द्वारा लागू की जाती है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामुहिक कार्य को प्राथमिकता दी जाती है और इसमें गरीबों के संगठन को जिसको स्वयं सहायता समूह का नाम दिया गया है जिसमें महिलाएं भी शामिल होगी द्वारा कार्य किया जाएगा। प्रत्येक पंचायत समिति में कम से कम आधे स्वयं–सहायता समूहों में महिलाएं होगी। इस योजना में लाभार्थियों की बजाय उनको स्वरोजगारी का नाम दिया गया है। इन व्यक्तिगत स्वरोजगारी योजनाओं के विकास अधिकारी या इसका प्रतिनिधि, बैंक कर्मचारी तथा सरपंच होते हैं।

1999–2000 के दौरान 1472.33 करोड़ रूपये इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित किए गए, जो पिछले बकाया को मिलाकर तथा राज्यों का हिस्सा मिलाकर कुल 19.7.66 करोड़ था। जिसमें से खर्च 959.86 प्रतिशत था। 2000–2004 के बजट में इस योजना के लिए 800 करोड़ रूपये निर्धारित किए गए हैं।

सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना

यह योजना सितम्बर 2001 को आरम्भ की गई इसमें सुनिश्चित रोजगार योजना तथा जवाहर ग्राम समृद्धि योजना को मिलाया गया और सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना का नाम दिया गया। इस योजना के दोहरे उद्देश्य है, प्रथम ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरी सम्बन्धित रोजगार मुहया करवाना तथा द्वितीय ग्रामीण गरीबों को अन्न प्रदान करना। इसके अन्तर्गत प्रत्येक कार्य दिवस में प्रत्येक मजदूर को 5 किलोग्राम अनाज मजदूरी के रूप में देना होता है। यह कार्यक्रम पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से लागू किया जाता है। इस कार्यक्रम में मजदूरी के रूप में दिया जाने वाला पैसा केन्द्र तथा राज्यों के द्वारा 75.25 प्रतिशत के अनुसार तथा अनाज की पूरी कीमत केन्द्र सरकार द्वारा दी जाती है। प्रथम बार इस योजना के लिए 4900 करोड़ रूपये आबंटित किए गये, जिसमें 4125 करोड़ रूपये नकद तथा 775 करोड़ रूपये अनाज के रूप में दिए गए।

2.7.7 निष्कर्ष

हम कह सकते हैं कि भारत सरकार ने समय–समय पर गरीबी उन्मूलन के अनेक कार्यक्रम आरम्भ किए हैं और उनके सकारात्मक नतीजे भी मिले हैं परन्तु भारत की जनसंख्या इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि हर कार्यक्रम इसके लिए सक्षम साबित नहीं होता है। इसलिए जनसंख्या नियन्त्रण पर ही गरीबी के उन्मूलन कार्यक्रम सही कदम साबित हो सकते हैं अर्थात गरीबी को नियन्त्रित किया जा सकता है।

2.7.8 मुख्य शब्दावली

- निर्धनता
- गरीबी रेखा
- क्षेत्र प्रधान
- सामुदायिक
- ग्रामीण विकास

2.7.9 अभ्यास हेतू प्रश्न

1. गरीबी उन्मूलन से क्या समझते हैं? इसकी संकल्पनाएँ और मापदण्डों का उल्लेख कीजिए।
2. भारत में निर्धनता से मुक्ति पाने के लिए रोजगार सृजन करने वाले कार्यक्रम क्यों महत्वपूर्ण है, उल्लेख कीजिए।
3. क्या निर्धनता और बेरोजगारी के बीच कोई संबंध है? टिप्पणी कीजिए।
4. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के उद्देश्यों का विस्तृत में वर्णन करो।

2.7.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Comer Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, Bl Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.